

कुछ लोग ऐसे भी

(डायरी के पन्नों में मेरा गाँव)

शिवमूर्ति सिंह

प्रतिभा प्रकाशन
डी-11, अलोपीबाग, इलाहाबाद

कुछ लोग ऐसे भी
(डायरी के पन्नों में मेरा गाँव)

प्रकाशक : प्रतिभा प्रकाशन
डी-11, अलोपीबाग,
इलाहाबाद

संस्करण : प्रथम, 2013 ई.

© शिवमूर्ति सिंह

मूल्य : रु. 220/-

मुद्रक : भार्गव ऑफसेट
2, बाई का बाग, इलाहाबाद

महानगरीय भोगवादी अराजक उन्माद से लोक संस्कृति को बचाने की आवश्यकता है

आज गाँवों की मुट्ठी से उनकी निजता, उनका ठेठ गँवईपन रेत की तरह रीत रहा है, रिसता जा रहा है। लोक-संस्कृति के स्वस्थ, जीवनदायी तत्त्वों का तेजी से क्षरण हो रहा है। लोक-मन को विकृत-प्रदूषित किया जा रहा है। यदि समय रहते इन्हें सहेजा-बचाया नहीं गया तो वह दिन दूर नहीं जब गाँव अपनी पहचान खो देंगे। नगरों की उच्छृंखल अपसंस्कृति ने गाँवों में पाँव पसारना शुरू कर दिया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के उत्पाद धड़ाधड़ गाँवों में पहुँचने लगे हैं। गाँव की छोटी दुकानें भी 'मल्टीपरपज जनरल स्टोर' में तब्दील हो गई हैं, जहाँ सुतली से लेकर फेयर एण्ड लवली ब्यूटी क्रीम तक उपलब्ध है। धुर देहात में भी अंग्रेजी माध्यम के पब्लिक स्कूल खुल गये हैं, जो सी.बी.एस.सी. से मान्यता प्राप्त हैं। जीन्स में सजी-सँवरी गाँवों की नई पीढ़ी अपनी विरासत को संदेह की नज़र से देख रही है। वह शारीरिक श्रम से कतराने लगी है, उसे खेतों में काम करना कतई पसन्द नहीं है। शहरों की होटल और क्लब संस्कृति ने गाँवों के नवयुवकों के स्वस्थ मन को आलोडित करके रख दिया है। टेलीविजन 'रियैलिटी शो' के नाम पर खुले आम अश्लीलता परोस रहे हैं। इन सबका सीधा असर हमारी बोली-बानी, आचार-विचार, रहन-सहन, पहनावा आदि सभी पर स्पष्ट देखा जा सकता है। गाँवों की सीधी-सादी ज़िन्दगी इतनी विकृत, इतनी विरूप पहले कभी नहीं थी।

इस भोग-विक्षिप्त समय में, तमाम विकृतियों और विरूपताओं के बावजूद भी हमारे गाँवों के पास अभी बहुत कुछ उनका 'अपना' बचा हुआ है, जो आने वाले समय में निश्चय ही हमें एक आश्वस्तमूलक विकल्प देगा - ऐसा मेरा मानना है। अपने इन्हीं गाँवों में अपने मूल स्वरूप में भले न सही, हमारी जातीय संस्कृति सुरक्षित है, यद्यपि महानगरों के अराजक, भोगवादी उन्माद ने गँवई मानसिकता को विकृत करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है।

आज भी हमारे गाँवों में दूध-पूत और अखंड अहिवात के अनगिनत आशीष अपने आँचल में भरे हुये, शताधिक शीत-शिशिर, बसन्त झेल चुकी कतिपय दादियाँ मिल जायेंगी, जिनके आशीषों की शीतल छाँव में दो घड़ी बैठ लेने मात्र से ही 'जिय की जरन' छू-मन्तर हो जाती है और मन का सारा कलुष-कीच धुल-पुँछ जाता है। अभी भी गाँव के लोहरान, कोहरान, पसियान टोलों में अपने आठ-नौ दशकों की अनुभव-सम्पदा समेटे बुद्धू काका, घुरहू दादा और निठोहर चौधरी मिल जायेंगे, जो अपना नाम बताते ही हहास भर कर मिलेंगे। पहले चाय-पानी के लिये पूछेंगे, फिर पास बैठाकर अपने अनुभवों-सम्बन्धों की गठरी खोलना शुरू कर देंगे। चंद दिनों के मेहमान इन बुजुर्गों से मिलकर, उनका निश्छल आशीर्वाद पाकर मन ओर-छोर भीग जाता है। इनके मन के दर्पण पर आज भी नागरी चालाकियों और छल-छद्मों की धूल कतई नहीं जम पाई है।

आज़ादी के छः दशक बाद भी गाँवों में अशिक्षा है, अभाव है, कुपोषण है, बीमारी-अजारी है, तो भी सामान्य जन-जीवन में छल-छंद नहीं है। गाँव के लोग शहरियों की अपेक्षा

ज्यादा सरल व सहज हैं। गाँवों में प्रकृति का उन्मुक्त वातावरण है, ताल-पोखर हैं, अमराइयाँ-महुवारियाँ हैं, उनके तीज-त्योहार हैं, उत्सव-परब, मेले-ठेले हैं। आल्हा, बिरहा, लावनी, लोरकी, फाग, चैता, कजली जैसे लोक-गीतों की अमूल्य सम्पदा है। गाँवों की रक्षा के लिए, उन्हें आफत-विपत से बचाने के लिए पूर्वी सीमान्त पर काली माई हैं, तो पश्चिमी सीमान्त पर शिवालों और ठाकुरबाड़ियों में विराज रहे भोले बाबा और रामजी हैं। उनके अपने डीह बाबा हैं, कोट की भगवती हैं, आँगन की तुलसी माई हैं और है द्वार पर झूमता आरोग्य का खजाना नीम का पेड़। इन्हीं के सहारे गाँव लाख अभावों के बावजूद भी बाढ़-बूढ़ा, आँधी-बवंडर, झूरा-सूखा, बीमारी-अजारी आदि प्राकृतिक प्रकोपों को झेलते हुये, अपनी सदियों की विरासत को सहेजे जी रहे हैं। ग्रामवासियों की इस अदम्य जिजीविषा के अवलम्ब उनके ग्राम-देवता, रामायण, कुरान और ग्रन्थ साहब भी हैं। अभावों में भी उनका अखण्ड धार्मिक आस्था-भाव अडिग है।

हमारा समाज जाति-आधारित समाज है। इसके पास सर्वाधिक मूल्यवान धरोहर है जातियों की परस्पर-अन्योन्याश्रितता। प्रत्येक जाति अपने दैनन्दिन कार्य-व्यापारों शादी-विवाह, मरनी-करनी में एक-दूसरे के ऊपर निर्भर है। यही निर्भरता, यही पारस्परिकता, सदा से एक दूसरे को जोड़ती, भाईचारे की डोर में बाँधती रही है। ग्राम-पंचायतों की चुनावी राजनीति और कुर्सीपरस्त राजनेताओं की घुसपैठ के कारण यह सद्भाव की डोर कमजोर अवश्य हुयी है, लेकिन टूटने-बिखरने से बची हुई है। कोई अदृश्य शक्ति इसे टूटने से सदैव रोकती रही है।

X X X X X

तुलसीदास ने लिखा है कि एक नेवले के रूप में मैं कलिकाल के विषधर से लड़ते हुये जब शैथिल्य का अनुभव करता हूँ तो एक विशेष प्रकार की औषधि सूँघने चित्रकूट की ओर दौड़ पड़ता हूँ। इसी तरह मैं भी जब शहर की कृत्रिम-विरस जिन्दगी से ऊब जाता हूँ, यहाँ के प्रदूषित-दमघोटू वायुमण्डल में साँस लेते-लेते हाँफने लगता हूँ, भीतर से चुकने लगता हूँ, तो किसी 'संजीवनी' की तलाश में गाँव भाग जाता हूँ। सरकारी सेवा से मुक्त होने के बाद चैती और खरीफ की फसलों की बोआई और मड़ाई के समय मैं सारे आवश्यक कामों को स्थगित कर गाँव अवश्य पहुँच जाता हूँ। गाँव जाते समय मेरी डायरी और कलम भी मेरे साथ जाती है। यद्यपि बटाईदारों के साथ काम करने-कराने में थकान लग जाने के कारण लिखना-पढ़ना बहुत कम हो पाता है, तो भी थोड़ा-बहुत समय जो हाथ आता है, उसका सदुपयोग करने की कोशिश करता हूँ। खेती के कामों से चुराये-बचाये समय में ही यह पन्द्रह दिनों की डायरी लिखी गई है। इस बार चैती की लवन (कटाई) के सीजन में जब गाँव गया, तो वहाँ कुछ ऐसी घटनायें घटीं, कुछ ऐसे 'जीवन्त' व्यक्तियों से जुड़ाव हुआ कि मैं यह डायरी लिखने को विवश हो गया। और सच तो यह है कि ये ही थोड़े से 'जीवन्त-जागृत' व्यक्ति हैं, जिनके कारण गाँव आज भी मुझे अपने पास बुलाता रहता है। ये ही थोड़े से व्यक्ति हैं, जो गाँव की अभावग्रस्त, खस्ताहाल जिन्दगी को जीने लायक बनाये हुये हैं।

गाँव के बूढ़े आदमी भी अपूर्व उत्साह से भरे होते हैं। कटनी हो, दँवरी हो, ओसावन हो, वे नौजवानों से पीछे नहीं रहते, बल्कि उन्हें बराबर ललकार कर उत्साहित करते रहते हैं।

यही वजह है कि वे कभी शहरातियों की तरह अवसाद (Depression) के शिकार नहीं होते, न ही उन्हें कभी हृदयाघात (Heart attack) होता है। गाँव में छोटे-बड़े, धनी-निर्धन किसी का काम कभी अटकता नहीं। एक-दूसरे की मदद से सबकी गाड़ी पार होती चलती है। यह पारस्परिकता ही गाँव की पूँजी है। बाँड़-निर्वश व्यक्ति की मृत्यु हो, चाहे सन्तानहीन अनाथ विधवा की, उसकी लाश को कब्रिस्तान या श्मशान (गंगा-तट) पहुँचाने के लिये सदाशयी हाथों और कंधों की कमी नहीं होती। यहाँ तक कि उसे सद्गति देने के लिये चन्दा करके चालीसवीं/तेरही करने वालों का भी अकाल नहीं होता। इसीलिए गाँव के वृद्ध आज भी उपेक्षित नहीं समझे जाते। उन्हें वृद्धाश्रम भेजने की ज़रूरत उनके बेटों को कभी महसूस नहीं होती।

महानगरों की कौन कहे, आज छोटे-छोटे शहरों व क़स्बों में रहने वाले पेंशनयापता वृद्ध अपनी सन्तानों के दुर्व्यवहार से इतने आहत हैं कि वे अपने बेटे-बहुओं को छोड़कर वृद्धाश्रमों में रहते हुये अपने को ज़्यादा सुखी-सन्तुष्ट महसूस करते हैं। पश्चिमी देशों की देखा-देखी अपने यहाँ महानगरों में जिस काल-सर्पिणी माल-संस्कृति का उदय हुआ है, इसने तो मनुष्य से मनुष्यता ही छीन ली है। ऊँचे-ऊँचे फ्लैटों में रहने वाले धनपशु एक-दूसरे से इस सीमा तक अपरिचित हैं कि बगल में रहने वाले का नाम तक नहीं जानते, न ही जानने की ज़रूरत महसूस करते हैं। इनके जीवन का सर्वाधिक दुखद और दयनीय पहलू तब सामने आता है, जब इनके यहाँ किसी की मृत्यु होती है और शोक व्यक्त करने और रोने के लिए पैसे खर्च करके रोने वाले रूदालिये (Mourners) बुलाये जाते हैं। जब वे रोना-पीटना शुरू करते हैं, तब पता चलता है कि अमुक व्यक्ति के यहाँ कोई गमी हुई है। हमारे गाँवों में आज भी ऐसी हृदयहीनता का दूर-दूर तक अता-पता नहीं है। अभी भी गाँवों का खून इस दर्जे तक पानी नहीं हुआ है कि मृतक के लिये कोई रोने वाला न मिले। गरीबी है, अभाव है, किन्तु मनुष्यता का लोप नहीं हुआ है। किसी अनाथ सन्तानहीन व्यक्ति के सुख-दुःख में खड़े होने वालों की कमी नहीं है।

हमारे गाँवों की संस्कृति समुदाय की संस्कृति है। कुछेक अपवादों को छोड़कर आज भी अधिकांश परिवार जिसमें कई भाइयों की सन्तानें हैं, माँ-बाप हैं, चाचा हैं, संयुक्त रूप से इकट्ठे रहते हैं। पशु-पक्षियों से लेकर वनस्पतियों तक - कहीं भी अकेलापन नहीं है। किसी के दरवाज़े पर थोड़ी भी खाली ज़मीन है, तो उसने उस पर सब्जियाँ रोप दी हैं, पपीते-केले लगा दिये हैं। नित्य-प्रति इनकी देखभाल करता है, सींचता है, ज़रूरत पड़ने पर दवाओं का छिड़काव भी करता है। गाँव के आदमी को पशु-पक्षियों से भी बेहद लगाव है। गर्मियों में जब ताल-पोखर सूखने लगते हैं, वह अपने बैठके में एक बड़ी मिट्टी की हाँड़ी, पानी भरकर सिकहर पर टाँग देता है। आज के इस यान्त्रिक युग में भी हमारे गाँवों का आदमी 'यन्त्र' नहीं हुआ है, गोकि उसे यन्त्र में तब्दील करने के बहुतेरे प्रयास हो रहे हैं और साजिशें रची जा रही हैं। शीत ऋतु में वृद्धों के लिये बैठक के कोने में मोटा पुवाल बिछा दिया जाता है, सुबह-शाम बोरसी की आग तैयार करके उनके आगे रख दी जाती है। सुबह धूप आते ही उनकी खटिया धूप में बिछा दी जाती है और वहाँ बैठाकर हाथ में चाय का भरा गिलास पकड़ा दिया जाता है। यह सेवा-सम्हार ही उन्हें सदैव अवसाद से बचाता है और स्वस्थ-दीर्घ जीवन प्रदान करता है। महानगरों में पैसे खर्च करके सुविधायें तो खरीदी जा सकती हैं किन्तु ऐसी आत्मीयता, ऐसा

अपनापन, ऐसी परितृप्ति नहीं हासिल की जा सकती। धन से ईंट-गारा जोड़कर महल खड़ा किया जा सकता है, किन्तु महल में रहने वालों के टूटे दिलों को जोड़कर उनमें प्रेम व आपसी सौहार्द्र की प्रतिस्थापना नहीं की जा सकती।

X X X X

पुस्तक में, बटाईदारों के साथ पन्द्रह दिनों तक अपने खेत-खलिहान में काम करने-कराने का बिना लाग-लपेट के, यथावत् वर्णन है। साथ ही अवकाश के क्षणों में गाँव के ही कुछ 'जीवन्त' व्यक्तियों का जिनसे मिलकर, बतियाकर सुख मिलता था, उनकी अच्छाइयों-बुराइयों के साथ सविस्तार उल्लेख है। बीच-बीच में प्रसंग-वश आ गये कुछ स्मृति चित्र हैं, जो पुस्तक को शुष्क गद्य होने से बचाते हैं और पठनीय बनाते हैं।

पखवाड़े-भर की यह संस्मरणात्मक डायरी - 'कुछ लोग ऐसे भी' हृदय की सम्पूर्ण निष्ठा के साथ सहृदय पाठकों को सौंप रहा हूँ, इस उम्मीद के साथ कि वे इसे पढ़कर अपनी प्रतिक्रिया अवश्य देंगे।

आभारी हूँ आदरणीय अग्रज कवि श्री कृष्णेश्वर डोंगर व प्रिय कवि मित्र-त्रयी रविनन्दन सिंह, नन्दल हितैषी व विवेक सत्यांशु का, जिन्होंने पाण्डुलिपि को आद्योपान्त पढ़ा, सराहा व छपवाने को प्रेरित किया।

जुलाई, 2012

शिवमूर्ति सिंह

समर्पण

प्रिय पत्नी कुसुम सिंह को,

जिन्होंने अपनी असाध्य बीमारियों को दरकिनार
कर मेरे सुख-सुविधा के साधन उपलब्ध कराया
और पुस्तक पूरा करने को उत्साहित किया।

तथा

पुत्र-तुल्य चिन्टू-मिन्टू (बटाईदार) को, जिनके
असीम उत्साह व कार्य के प्रति एकनिष्ठ समर्पण
को मैं सदैव प्रणाम करता रहा हूँ।

4 अप्रैल, 2012 - बुद्धवार

गाँव से बटाईदार का फोन आया है—‘बड़का बाबू, चना-मटर काट-दाँय कर बोरो में भरकर धर दिया है, गेहूँ भी दो-चार दिन में कटना शुरू हो जायेगा—आप बड़की माई (मेरी पत्नी) को लिवाकर आ जाइये।’ मैं पत्नी को बताता हूँ। गाँव जाने का मन बना रहा हूँ। कब, किस गाड़ी से चलूँ, तय नहीं कर पा रहा हूँ। कई आशंकायें घेरने लगती हैं। इलाहाबाद में एक व्यवस्थित-नियमित जिंदगी। गाँव जाने का मतलब चौका से खेत खलिहान तक की व्यवस्था खुद करना। हर बार पत्नी साथ होती थीं, कोई खास परेशानी नहीं होती थी। इस बार वे जाने की स्थिति में नहीं हैं। अभी 10 दिन पहले हार्टलाइन हार्टकेयर सेन्टर से इलाज के बाद घर आई हैं। इधर गठिया से परेशानी और बढ़ गई है। छड़ी के सहारे थोड़ा-बहुत चल-फिर ले रही हैं। बैठ जाती हैं तो उठने में छठी का दूध याद आने लगता है। तो भी चलने को तैयार हैं। मैं आशंकित हूँ—गाँव में यदि दिल का दौरा पड़ा तो क्या करूँगा ? मुझे नहीं मालूम कि उन्होंने बटाईदार से स्वयं फोन करके, खेती की पूरी जानकारी ले ली है और मेरे साथ गाँव चलने की तैयारी भी कर चुकी है। लेकिन जब चलने को होती है तो स्वास्थ्य-संबंधी कोई न कोई समस्या आ खड़ी होती है—कभी पेट खराब, कभी शूगर बढ़ा, कभी सीने में दर्द और घबराहट, कभी जोड़ों में असह्य पीड़ा, इधर एक महीने से बाई आँख की रोशनी एकदम क्षीण हो गई है। इतने के बावजूद भी उत्साह में कमी नहीं है। वे साथ चलने को तैयार हो जाती हैं। तय होता है, रात की गाड़ी से चलकर सुबह गाँव पहुँच चला जाये, ताकि प्रचण्ड धूप का सामना न करना पड़े।

मैं उन्हें साथ ले स्टेशन आता हूँ। बेटा बाइक से हम लोगों को बैठाने आता है। हम लोगों को बाम्बे जनता एक्सप्रेस से जाना है, जिसके आने का समय रात 12.30 बजे है। इलाहाबाद से मुगलसराय-मात्र तीन घंटे की यात्रा। कभी अखबार में पढ़ा था कि सामान्य टिकट-भाड़े का 25 प्रतिशत अतिरिक्त देकर स्लीपर में बैठने की सीट का (यदि खाली है तो) आरक्षण हो जाता है। बेटे को इतना बताकर टिकट लेने भेज देता हूँ। वह दो वरिष्ठ नागरिक का टिकट लेकर लौट आता है, सीट का आरक्षण नहीं मिलता। दिल की मरीज पत्नी के साथ सामान्य बोगी में बैठकर चलने की कल्पना से ही जी घबराने लगता है। कई बार सामान्य बोगियों की कुम्भ मेले जैसी भीड़ देख चुका हूँ। एक-दो बार टिकट लौटाकर बस से यात्रा की है। सोच ही रहा था कि नज़र आरक्षण चार्ट के पास खड़े दो-तीन टिकट-

परीक्षकों पर पड़ी। उनसे सीट-आरक्षण की बात करता हूँ। वे एस-6 नं. बोगी में बैठने को कहकर व्यस्त हो जाते हैं। बोगी में लगभग आधी सीटें खाली हैं, जिनका आरक्षण नहीं हुआ है। धीरे-धीरे 25-30 यात्री आ जाते हैं। उनमें से किसी के पास आरक्षित टिकट नहीं है। मैं देख रहा हूँ कि टी.टी.ई. किसी से सौ, किसी से पचास रुपये लेकर एक-एक सीट कब्जा कर लेने का निर्देश दे रहा है। मैं पत्नी के साथ नीचे वाली बर्थ पर बैठा हूँ। मेरे सामने वाली बर्थ पर पुलिस का कोई डिप्टी एस.पी., जिसे दो तीन पुलिस सब इंस्पेक्टर बैठाने आये हैं, लेटा है, टी.टी.ई. उससे पैसे नहीं माँगता। सोचने लगा कि मुझे भी दो सौ देना पड़ेगा। मेरे दो टिकटों की कीमत मात्र साठ रुपये थी। अब अलग से घूस के रूप में दो सौ और देना मुझे खलने लगा था। तो भी पत्नी की बीमारी को देखते हुये मैंने देने का मन बना लिया। पत्नी ने आश्वस्त किया—‘आने दीजिए, टी.टी.ई. से मैं बात करूँगी।’ मैं समझ नहीं पा रहा था कि यह दर्जा-5 पास औरत क्या बात करेगी। पैसठ साल की उम्र में युवावस्था का वह लावण्य भी शेष नहीं है, जो इन घूसखोर नौजवानों को आकर्षक कर सके और वे थोड़ा नैन-सुख प्राप्त कर अनुत्कोची वृत्ति धारण कर लें। गाड़ी अभी प्लेटफार्म पर ही थी। सबको निपटाकर एक टी.टी.ई. मेरे पास आया। मैं कुछ बोलूँ, इससे पहले पत्नी बोल बड़ीं—मेरा भतीजा शिवानन्द सिंह यहीं पर टी.आई. (ट्रैफिक इंस्पेक्टर) है, उसने कहा है कि मेरा नाम बता दीजिए—स्लीपर में बैठने की जगह मिल जायेगी। इत्तफाक़ था कि टी.टी.ई. भतीजे को जानता था। वह अब दो सौ की उम्मीद छोड़ याचक की मुद्रा में आ गया। बोला—आंटी जी, थोड़ा कुछ नाशता-पानी-भर तो दे दीजिए।’ पत्नी ने पर्स खोल दस के तीन नोट देकर उसे विदा कर दिया। मुझे भी यह युक्ति सूझी थी, किन्तु जब से परिवार में अलगाव हुआ है, मैं भतीजे के नाम को भुनाना अपनी प्रतिष्ठा के खिलाफ समझता हूँ। पत्नी को संकोच शायद इसलिए नहीं हुआ कि उन्होंने उसे अपने बेटे से अधिक प्यार दिया है, उसने इन्हीं के संरक्षण और देख भाल में नवीं से एम.ए. तक की शिक्षा प्राप्त की है। आज भी वह इन्हें अम्मा ही कहता है। मैंने अनुभव किया कि जहाँ निश्चल प्यार होता है, वहाँ सारे संकोच तिरोभूत हो जाते हैं। फिर यह तो माँ-बेटे का प्यार था। यहाँ उन्होंने उसका नाम बताने में कोई संकोच नहीं किया, वह अपने आप उनके मुँह से छलक पड़ा। पत्नी में गँवई सरलता है, गँवई स्वभाव आज तक नहीं बदला है। मैं ज़्यादा पढ़ा-लिखा हूँ, ज़्यादा दिन से शहर में रह रहा हूँ, इसलिए शहरी चालाकियाँ कभी-कभी मेरी सरल-वृत्ति पर हावी हो जाती हैं। और जब भी ऐसा होता है, मेरा स्वाभिमान अहंकार का रूप ले लेता है। भतीजे का नाम बताने में मेरा अहंकार ही आड़े आ रहा था।

गाड़ी लगभग आधे घंटे रुकी रही। मैं पानी भरने नीचे उतरा। जाते समय देखा—दो पुलिस वाले एक नौजवान को पैसे देने को मज़बूर कर रहे हैं, क्योंकि उसने छोटी वाली सिलाई मशीन बुक नहीं कराई थी, अपने पास सीट के सामने रख ली थी। नियमानुसार उसे बुक कराने की कोई अनिवार्यता नहीं थी। नौजवान सौ की जगह चालीस रुपये देने के बाद

पुलिस वालों के पंजे से छूटा। मैं रेल विभाग के इन 'रक्षक कुत्तों' की लोभ-वृत्ति को धिक्कारता अपनी सीट पर आ गया।

मुगलसराय उतर कर मैंने पत्नी से प्रस्ताव रखा—अच्छा होगा हम लोग धीरे-धीरे आटो-स्टैंड तक पैदल चलकर एक आटो रिक्शा रिजर्व करके सीधे गाँव चले चलें। उसी में तीनों बैग और अटैची भी डाल देंगे। समस्या थी पत्नी को छड़ी के सहारे आटो स्टैंड तक, लगभग आधे किलोमीटर तक टहलाते हुए ले जाने की, और वह भी लम्बे ऊँचे पुल की ऊँचाई पार करके। यह उनके लिए एवरेस्ट पर चढ़ने जैसा था। एक एवरेस्ट वे इलाहाबाद में पार कर चुकी थी, लेकिन तब बेटे की मज़बूत बाहों का सहारा था। पत्नी को मेरा प्रस्ताव अच्छा नहीं लगा। उन्होंने सुझाया कि सुबह, 5.30 बजे पटना पैसेंजर आती है, आधे घंटे में कुचमन उतर जायेंगे। वहाँ महेन्द्र (छोटे भाई का लड़का) बाइक लेकर आयेगा और बारी-बारी दोनों आदमी गाँव पहुँच जायेंगे। बेटे ने इलाहाबाद से महेन्द्र को फोन कर दिया होगा। पैसेंजर सही समय पर आ गई। समयाभाव के कारण हम लोग टिकट भी नहीं ले पाये। चूँकि इलाहाबाद से मुगलसराय तक का टिकट पॉकेट में पड़ा हुआ था, इसलिए चेकिंग होने की स्थिति में ज्यादा ज़ुर्माना नहीं देना पड़ेगा, ऐसा सोचकर बैठ गये, लेकिन इत्फ़ाक़ कि कोई टी.टी.ई. नहीं आया। महेन्द्र बाइक के साथ इन्तज़ार कर रहा था। हम लोग उसी के साथ बारी-बारी गाँव पहुँच गये।



दि. 5 अप्रैल, 2012 – वृहस्पतिवार

गाँव पहुँचकर पत्नी पुराने कच्चे मकान में चली गई, जहाँ छोटे भाई का परिवार रह रहा था। मैंने पक्के मकान के बरामदे में चार अदद सामान रखकर अपना कमरा खोला। देखा, पूरे कमरे में मकड़ियों ने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया है। दोनों आलमारियों और बेड पर धूल की मोटी पर्त। फर्श का भी यही हाल था। कमरे की हालत देख मैं यह भूल ही गया कि रात-भर जागकर आया हूँ। सर्वप्रथम बाँस की लग्गी लेकर जाला साफ किया, फिर झाड़ू उठा कमरे-आलमारी की धूल बुहार बाहर फेंकी। अपनी चौकी को गीले कपड़े से पोंछ बैठने की जगह बनाई। अभी डबल बेड के दोनों मोटे गद्दे उठाकर बाहर दरवाजे पर धूल झाड़ने के लिए ले जाना बाकी था। इतना कुछ करने में ही आधा घंटा लग गया। थकान भी हो आई। डबल बेड यथावत् छोड़ हैंडपाइप पर हाथ-पैर धोया और भीगी तौलिया से सिर की धूल पोंछी। वहाँ से बाल्टी भर पानी के साथ लौटा कि भाई के यहाँ से चाय आ गई। भाई के पोते-पोतियों ने पैर छुये। आठ साल का अनन्त आकर बगल में बैठ गया और अपने गोलू भैया (मेरे पोते) का हाल-चाल पूछने लगा। गोलू से उसका विशेष लगाव है क्योंकि उसने इलाहाबाद से अनन्त के लिए अपनी एक साल पुरानी साइकिल भेजवाई थी। मैं कुछ पूँछू, इसके पहले ही अनन्त चालू हो गये—‘बाबा, मैं गोलू भैया की साइकिल से पूरे गाँव का चक्कर लगाता हूँ, रोज़ दो-तीन बारा। मुझसे कोई नहीं जीत पाता, अतुल और विपिन भैया को भी हरा देता हूँ। और बाबा, देखिये (वह मेरे मुँह को हाथ से अपनी ओर घुमाता है) मैं बाबा की बड़ी साइकिल भी चला लेता हूँ। पहले कैची चलाता था, अब सीट पर बैठकर चला लेता हूँ। लेकिन वह तेज नहीं चल पाती। बड़ा हो जाऊँगा तो उसे भी खूब तेज़ चलाऊँगा।’ अनन्त की वाक्-माधुरी में मैं खो-सा गया और तन-मन की सारी थकान मिट गई। हाल में ही हुये पारिवारिक अलगाव की पीड़ा भी छू-मन्तर हो गई। मेरे साथ पत्नी के आने की खबर सुनकर पट्टीदार की पोतियाँ भी आ गईं। चार महीनों तक वीरान पड़ा कमरा आबाद हो गया। मैं अकेला आता तो शायद ही इस कमरे का सत्राटा टूटता। ‘बिन घरनी घर भूत क डेरा’ — घरनी आई, उनको चाहने वालियाँ आईं, भूत खुद-ब-खुद भाग गये।

चाय पी चुकने के बाद मैंने सुतीं मुँह में दबाई और दो बाल्टियाँ उठा हैंडपम्प से पानी लाया, आँगन-बरामदा धोया और गैस चूल्हा और सिलिन्डर बरामदे में रखा। पत्नी को मचिया पर बिठाकर उनके पास किचने के बर्तनों की टोकरी और तेल मसाले के डिब्बे रख

दिये। वे बड़े भगौने में पानी भरकर बर्तनों-डिब्बों की धूल साफ करने लगीं और मैं किचेन की सफाई में जुट गया। किचेन भी मकड़ियों से आबाद था, यहाँ तक कि फर्श पर रखे सामान भी मकड़ी के जालों में उलझे हुये थे। जालों की उलझन ने मेरी उलझन बढ़ा दी। मैंने लगगी फेंक झाड़ू उठायी और पहले झाड़ू में फर्श के जालों को लपेटा, लगगी से छत और दीवालें के जाले साफ किया। अन्त में पानी लेकर पूरी फर्श धोया। इतना सब निपटा चुकने के बाद, पत्नी की मचिया के पास पानी की दोनों भरी बाल्टियाँ रखीं। उन्हें स्नान करने को सहेज मैंने चटपट दो चाय बनाई। अपनी चाय लेकर कमरे में गया और एक पत्नी के लिए ढँक दी। पत्नी के स्नान कर चुकने के बाद उन्हें चूल्हे के पास बिठा सब्जी लेने चला कि अनन्त आ गया। मैंने सब्जी का थैला और सब्जी की लिस्ट उसे पकड़ा दी। घड़ी की तरफ निगाह गई, साढ़े ग्यारह बज रहे थे। अभी स्नान नहीं किया था। बाहर दरवाजे की ओर देखा, लपलपाती फुफकारती लू की लपटें। हिम्मत नहीं हो रही थी। हैंडपम्प पर जाने की, क्योंकि वहाँ कोई छाया नहीं थी। लेकिन वहाँ गये बगैर बदन और कपड़ों की मैल धुलती भी कैसे ? अन्ततः बाल्टी उठानी पड़ी। छनछनाती फर्श पर खड़े होकर स्नान किया। फिर थोड़ा ध्यान और भोजन। अब विश्राम करने की बारी आई। चौकी से बिस्तर हटाकर उसे ठंडे पानी से धोया और बनियान निकाल उसी पर लेट गया। ऐसी गहरी नींद लगी कि शाम 5.30 बजे ही खुली।

पत्नी का गाँव पहुँचना टोला-पड़ोस के लिए एक समाचार होता है, जो कुछ की खुशियों में इजाफा कर देता है तो बहुतों को सालने लगता है। बेटे ने बटाईदार को कल ही सूचित कर दिया था कि बाबूजी के साथ माताजी भी जा रही हैं। बटाईदार यादव हैं। दो भाई, एक 18 का दूसरा 14 का, दोनों की अभी पढ़ने की उम्र, लेकिन परिस्थितियों ने उन्हें 4 साल पहले ही बालिग बना दिया, जब इनके पिता शिवनाथ की, खपरैल पाने के लोभ में, एक पुराना कच्चा मकान तोड़ते समय दीवाल के एक बड़े हिस्से से दबकर मृत्यु हो गई। वही खेती करता था। वैसा सीधा, सरल और ईमानदार आदमी आज के इस तिकड़मी दौर में ढूँढ़े नहीं मिलेगा। उसकी मृत्यु क्या हुई, पूरा परिवार अनाथ हो गया और मेरा तो जैसे दाहिना हाथ ही कट गया। उसकी मृत्यु के समय दोनों बेटे नाबालिग। उसकी तेरही नहीं बीती कि उसकी लाश पर रोटियाँ सेंकी जाने लगीं। उसी के पड़ोसी मुझसे बटाई पर ज़मीन लेने की दरखास्त करने लगे। मैंने उन्हें डाट कर भगाया। उसके दोनों बेटों और पत्नी को बुलाकर आर्थिक मदद की, प्रधान से कहकर विधवा पेंशन की अर्जी दिलवाई। थोड़ी-बहुत सरकारी सहायता भी मिल गई। मैंने इस अनाथ परिवार को यथाशक्ति सहायता कर इस आपदा से बाहर निकाला।

मैं सोकर उठा ही था कि छोटा चिन्टू आ गया, पहले अपनी बड़की माई, (मेरी पत्नी) का पाँव छुआ, फिर मेरा। उसकी खुशी का ठिकाना न था। बिना पूछे दोनों बाल्टियाँ लेकर स्टील का टब और प्लास्टिक का बड़ा कन्टेनर भर कर रख दिया। पत्नी से आवश्यक सामानों का नाम पूछ गाँव के सबसे बड़े जनरल स्टोर से सामान ले आया। पत्नी उसे पास

बिठा दिन का बचा खाना खिलाती हैं और खेती के बारे में जानकारी लेने लगती हैं। 'रहिला-मटर बोरों में भरकर चच्चा (मेरे छोटे भाई) के आटा-चक्की वाले कमरे में रख दिया है। दो-तीन दिन से गेहूँ के खेतों से सरसों फाँकी जा रही है। तीन-चार दिन और लगेंगे। गेहूँ भी पककर तैयार है। सरसों के बाद उसी का नम्बर है। भगवान चाहेंगे, बड़की माई, तो इस साल आपको सरसों का तेल नहीं खरीदना पड़ेगा। इस साल लाही तो नहीं लगी लेकिन सरसों की छेमियों में छोटे-छोटे कीड़े लगने से दर-मन कम हो जायेगी। दाने हल्के हो गये हैं। तब भी इतने में साल पार हो जायेगा। इस साल गेहूँ भी अच्छा नहीं है। काहे कि फागुन में पुरवइया बहुत जोरों से चली और गेहूँ के दाने पतले हो गये। हाँ, एक बात और बड़की माई, आप बड़का बाबू से कह दीजिए, तीनों चक से एक फुट माटी निकलवा दें, कहीं-कहीं बहुत उँचास है, नहर का पानी नहीं चढ़ता। खेत एकरस चौरस रहता है तो फसल अच्छी होती है।'

मैं अपने कमरे में बैठा चिटू और उसकी बड़की माई का वार्तालाप सुन रहा हूँ। पत्नी चिटू को आवश्यक निर्देश दे, मुझसे कल सबेरे चना मटर बँटवाकर मँगा लेने को कहती हैं। मैं महसूस करता हूँ कि खेती के बारे में जितनी जानकारी इनको है, मुझे तो इसकी चौथाई भी नहीं है। पाँचवी पास हैं और कोई डायरी-कलम भी नोट करने को नहीं रखती, लेकिन गेहूँ का कितना बीज डालना है, गेहूँ की बुआई के समय कितनी यूरिया और डी.ए.पी. डालनी है, असाढ़ में मोती, मंसूरी, आदमचीनी, काबेरी में किस-किस का कितना-कितना बीज, कहाँ-कहाँ डालना है—इस सबकी-जानकारी इनकी अंगुली के पोरों पर दर्ज है।

अभी चिटू की बात अधूरी रह गई थी। वह उसे पुनः शुरू करता है — 'बड़की माई, अखिलेश (मेरा बेटा) भइया जब फागुन में आये थे, 4 बोरा मोती (धान की एक नस्ल) कुटवाकर रख गये, कन्ना बहुत है। महेन्दर भैया अपने घर का धान तीन बेर कूटते हैं। हम लोगों का दो बेर कूट कर छोड़ देते हैं। बड़की माई ! ओसाने का मौका नहीं मिला। मिन्टू भइया बम्बई (मुंबई) कमाने चला गया और मेरी परिच्छा शुरू हो गई। मैं धान की कटाई मड़ाई में लग गया, पढ़ाई भी नहीं हो पायी, छमाही में तीन बिसय में फेल हो गया। पार साल बड़का बाबू ने क्लास टीचर से कह कर पास करा दिया था सालाना में। इस साल पास होना मुस्किल है। मास्टर लोग बरगद के नीचे कुर्सी लगाकर पंचाङ्क करते हैं, आधा घंटा बीत जाने पर क्लास में आते हैं। कहते हैं — खुद याद करो। नहीं समझ में आता, टिउसन पढ़ो। जिस दिन प्रिंसपल साहब नहीं आते, दो तीन पीरियड खाली रह जाता है। मास्टर लोग बैठे रहते हैं, बाकित पढ़ाने नहीं आते। बड़की माई ! आपै बताइये, जब पढ़ाई नहीं होगी, कुछ लिखायेंगे नहीं मास्टर, तब पास कइसे होंगे लड़के।'

पत्नी बीच में कथा-प्रवाह को मोड़ देती है—'चिटू बचवा, नसीरपुर वाले खेत का धान कहाँ रखा है ? हम लोगों के माघ में इलाहाबाद चले जाने के बाद अधियावाला ले आया होगा। निटोहर (भाई का बटाईदार) ने अखिलेश भइया को फोन किया था। उसको भी कुटवाना है। कल निटोहर को बुलाकर पूछ लो, कहाँ रखवाये हैं ?'

शाम के सात बज चुके थे, चिन्टू दरवाज़े पर रखी अपनी साइकिल लेने के लिए पक्के मकान से बाहर निकल ही रहा था कि उसकी बड़की माई पुनः आवाज़ लगाती हैं—चिन्टू, यह बताओ कि हम लोग पार साल बोरा-भर सरसों कमरे में चौकी पर छोड़ गये थे, वह कहाँ रखी है ? चिन्टू तुरन्त पॉकेट से मोबाइल निकालकर अखिलेश भैया को फोन करके पूछता है और कमरे की टाँड़ पर चढ़कर बोरा किनारे करता है और पलंग पर चढ़कर सर पर रख अकेले उतार देता है। पत्नी खुश होती है कि चूहों ने बोरे की दुर्गति नहीं की थी। सरसों सुरक्षित थी। वे चिन्टू को लाई गुड़ देकर विदा करती हैं। जाने से पहले उसे सहेज देती हैं कि सरसों काट लेने के बाद समय निकालकर मंसूरी धान को एक घाम दिखाकर कुटवाकर ऊपर वाले कमरे में रख देना।



दि. 6 अप्रैल, 2012 - शुक्रवार

सुबह की चाय पीकर मैं गेहूँ की फसल देखने का मन बना रहा था कि पिंटू (चिन्टू का बड़ा भाई) आकर सूचित करता है कि 'सारी सरसों कटकर आज 7-8 बजे रात तक खलिहान में धरा जायेगी। कल बड़की बहन ससुराल से आ गई। आज चार आदमी मिलकर काटना शुरू करेंगे तो खतम करके ही दम लेंगे। कल घाम में फैला देंगे। दो-तीन दिन सूखेगी तब मड़ाई लायक होगी।'

पत्नी बरामदे में दोपहर के भोजन की तैयारी में जुटी हैं। साथ में उनकी मुँहबोली पोती अलका भी है। पिंटू की आवाज़ सुनकर कमरे में दाखिल हो जाती हैं। उन्हें मेरे ऊपर इत्मीनान नहीं है। वे जानती हैं कि मैं थोड़ी देर में सब कुछ भूलकर पढ़ने या लिखने बैठ जाऊँगा। उनका ऐसा सोचना निराधार भी नहीं है। कई-कई बार मैं खेत-खलिहान के लिए घर से चला, रास्ते में किसी ने गली से अपने दरवाज़े पर बुला लिया, फिर तो खेत-खलिहान की छुट्टी। पत्नी के गाँव आने से मैं थोड़ा निश्चिंत भी हो जाता हूँ। वे खेती-संबंधी कामों के लिए राय-मशविरा देने के अपने एकाधिकार को किसी और को सौंपना भी नहीं चाहती। मुझसे ज़्यादा इत्मीनान उन्हें पिंटू-चिन्टू पर है। वे कमरे में आकर वार्ता का सूत्र मुझसे छीन लेती हैं और पिंटू को हिदायत देने लगती हैं—'बचवा, आजकल के मौसम का कोई भरोसा नहीं है। कल से पुरवइया चल रही है, हवा में नमी है। रह-रह कर उमस बढ़ रही है। लगता है आँधी आयेगी या आँधी के साथ पानी भी। भिनसार में बादल भी घिरे थे। जल्दी सरसों की दँवरी कराके दाना घर धरा दो। पानी बरस गया तो दाना खलिहान में ही मटियामेट हो जाएगा। मुझे घाघ की कहावत, जिसे गाँव के मेरे सहपाठी हुल्लड़ गुरू अक्सर उद्धृत करते हैं, याद आने लगती है—

*पछुवा ऊपर पुरवा डोलै। बेवा नार बिहँस के बोलै।
घाघ कहँ कुछ है होनहार। ई बरसी, ऊ करी भतार॥*

पिन्टू अपनी बड़की माई से इजाजत लेकर खेत पर चला गया, पत्नी रसोई में लग गई और मैं अकेले कमरे में बैठा सोचने लगा कि आज कोई अप्रत्याशित कार्य नहीं आ पड़ा तो अटैची खोलकर पत्रिकाएँ निकालूँगा, दुपहरिया आराम से कट जायेगी। मैं अभी कमरे में था कि पत्नी ने आवाज़ लगाई—'दूध में दलिया पका दिया है, खाकर ही कहीं जाइयेगा।'

नाश्ता करने के बाद मैं कहीं गया नहीं, क्योंकि कहीं किसी के दरवाजे जाने का मतलब था कि कोई मिलता नहीं। इन दिनों लोग खेती के कामों में व्यस्त रहते हैं। कटोरा-भर दलिया-दूध खा चुकने के बाद आलस घेरने लगा और मैं तकिया सिरहाने लगा चौकी पर लेट गया। ध्यान पत्नी की तरफ चला गया। सोचने लगा कि लाख अस्वस्थ सही, वे न होती तो मैं क्या कर पाता। जिसके शरीर के तीन महत्वपूर्ण अंग—बच्चेदानी, पित्ताशय और अपेंडिक्स—काटकर निकाल दिये गये हों, जो बीसों साल से मधुमेह की मार झेल रहा हो और उसी के कारण जिसकी दाहिनी किडनी सिकुड़कर एक तिहाई हो चुकी हो, जो दो-तीन हार्ट अटैक झेल चुका हो, गठिया ने जिसके बैठकर कुछ करने पर पाबन्दी लगा दी हो और 'लेव' के गरियार बैल की तरह जिसे उठाने में एक-दो के सहारे की जरूरत रहती हो, आये दिन जिसके सीने में दर्द होने लगता है और घबराहट में होंठ काँपने लगते हैं, उसके अदम्य उत्साह और कर्म में अटूट आस्था की मन ही मन प्रशंसा करता रहता हूँ। कायदे से मुझे उनकी हौसला अफजाई करनी चाहिए, जब कि वे मुझे हर क्षण उत्साहित करती रहती हैं और गाँव में भी मेरे स्वास्थ्य के अनुकूल नाश्ता और भोजन उपलब्ध कराने की भरसक कोशिश करती हैं। गाँव के लिए प्रस्थान करने के पहले तक मुझे ये नहीं मालूम रहता कि इनके दो बड़े बैग अपने भीतर क्या कुछ भरे हुए हैं। गाँव पहुँचकर खोलता हूँ तो देखता हूँ कि किसी डिब्बे में अलसी-मेवे के लड्डू हैं, किसी डिब्बे में देशी घी भरा है, कहीं कार्नफ्लेक्स के पैकेट पड़े हैं, कहीं बिस्कुट के पैकेट और नमकीन रखे हुये हैं। कहीं पेठा रखा हुआ है। यहाँ तक कि एक-दो वक्त के लिए सत्तू वाली 8-10 मकुनी भी बनवा कर रख लिया है। गाँव पहुँचने पर मुझे पता भी नहीं चल पाता और वे अगल-बगल पता लगाकर एक लीटर गाय के दूध की बन्ही बाँध देती हैं और मुझे सहेज देती हैं कि चिन्टू को बुलाकर 5 लीटर मिट्टी का तेल मँगा लीजिएगा, आप को लिखने-पढ़ने में परेशानी होगी, गाँव में बिजली का कोई भरोसा नहीं है। मुझे बरबस त्रिलोचन जी की कविता याद आने लगती है—

मेरी दुर्बलता को हरकर/नई शक्ति, नव साहस भर कर
तुमने फिर उत्साह दिलाया/ कर्म क्षेत्र में बढूँ संभल कर
तब से मैं अविरल बढ़ता हूँ/बल देता है प्यार तुम्हारा
मुझमें जीवन की लय जागी/मैं धरती का हूँ अनुरागी
जड़ीभूत करती थी मुझको/यह सम्पूर्ण निराशा त्यागी।
मैं बरबस संघर्ष-निरत हो/बदल रहा संसार तुम्हारा।



दि. 7 अप्रैल, 2012 – शनिवार

सुबह पाँच बजे प्राणायाम समाप्त कर रहा था तभी चिन्टू आ गया। उसे आज सरसों सूखने के लिए खलिहान में फैलाने को सहेज अटैची से 'साहित्य अमृत' और 'नया ज्ञानोदय' निकालकर दरवाज़े पर रख रहा था, तभी पत्नी ने अलका के हाथ चाय और बिस्कुट भेज दिया। चाय मुँह से लगाया ही था कि मेरे प्राइमरी के सहपाठी हुल्लड़ गुरू उर्फ ईश नारायण सिंह आ पहुँचे। तीन दिन गाँव में रहते हो गया था, मैं चाहकर भी उनसे मुलाकात करने का समय नहीं निकाल सका था। वैसे छोटे भाई से उन्हें मेरे आने की खबर लग चुकी थी। खेती के कामों से फुर्सत रहती है तो दो-तीन दिन पर या तो मैं उनके यहाँ चला जाता हूँ या वे स्वयं आ जाते हैं। हमेशा, हर हाल में खुश रहने वाले हुल्लड़ गुरू आज बहुत उदास दिखाई दे रहे थे। मैंने अलका को आवाज लगा, उनके लिए चाय बिस्कुट मँगाया। चाय-पीने के बाद उन्होंने मुझसे चुनौती लेकर सुर्ती बनाई, खुद खाया और मुझे भी दिया। हमेशा की तरह आज वे प्रवचन देने के मूड में नहीं थे। पहले जब भी आये हैं, रामायण या महाभारत का कोई एक प्रसंग छेड़ दिया है और बीच-बीच में स्वरचित भोजपुरी गीतों के माध्यम से उसमें रस का संचार सा किया है। मैंने उनसे कुछ सुनाने का आग्रह किया, लेकिन वे थोड़ी देर तक कुछ नहीं बोले, फिर एकाएक शुरू हो गये—आप तो जानते हो शिवमूर्ति भाई, मेरे पिता तीन भाई थे। चार-पाँच हल की खेती थी। हमारे बाबा पलकधारी सिंह की गाँव में धाक थी। मेरे पिता खेती-बारी देखते थे और उनके दोनों बड़े भाई पहलवानी करते थे। सबसे बड़े विश्वनाथ सिंह थे, वही परिवार के मालिक थे। उन्होंने अपने तीनों बेटों को बी.ए. एम.एम. कराया, तीनों को अच्छी नौकरी मिल गई—दो बैंक में बाबू और तीसरे इन्टर कालेज में अध्यापक हो गये। हम लोगों की पढ़ाई भाग्य-भरोसे। मैं और अम्बिका हाई स्कूल में फेल हो गये। बड़का बाबू ने अम्बिका से कुछ नहीं कहा और मेरे कंधे पर फरसा (फावड़ा) रख दिया और बोले—'हुल्लड़, तुम लम्बे-चौड़े हो, परमा (मेरे पिता परमानंद) बहुत फुकन्तू और घुमक्कड़ हैं। वे ठीक से खेती देख नहीं पाते। आज से तुम्हें खेती सँभालनी है।' सत्रह की उमर में ही उन्होंने मेरी किस्मत हल-बैल और फरसे के साथ नर्था कर दी। और तब से बैलों की तरह खेती का जो जुआ बड़का बाबू ने मेरे कंधे धरा, वह आज तक नहीं उतरा। बड़का बाबू ने बेटों की नौकरी लगते ही परिवार का तीन हिस्सों में बँटवारा कर दिया। मेरे पिता ऐयाश थे, अलगाव होने के बाद और आज़ाद हो गये। दोपहर मुन्नी बो सहुआइन के यहाँ, तो रात मिसरी नट की नई बीबी के यहाँ। उनका इकलौता बेटा बैलों की तरह खटनी

कर रहा है, इसकी उन्हें तनिक परवाह नहीं थी। बाप साठा पर पाठा हो रहा था और बेटा पाठा की उम्र में ही साठा होने लगा।’

हुल्लड़ गुरु अपनी आत्मकथा सुना ही रहे थे कि पत्नी ने अलका से दुबारा चाय भिजवा दी, साथ में दो जगह नमकीन दलिया। गुरु ने सिर्फ चाय ली, दलिया लौटवा दिया। चाय पीने के बाद उन्होंने आत्मकथा का सूत्र फिर पकड़ लिया। ‘बाप की ऐयाशी पर हमारी चुप्पी का नतीजा यह हुआ कि उन्होंने मौज-मस्ती में तीन-चार बीघे खेत भी बेच डाले। चार-पाँच बीघे मेरी दोनों बहनों की शादी में पहले ही बिक चुके थे, बटवारे के पहले ही। 15-20 बीघे असामियों के नाम सिकमी लग गये थे। मेरी तीन बेटियाँ-तीनों बेटों से बड़ी। उनकी शादी में भी 5 बीघे बिका। दो बहनें और तीन बेटियाँ-पाँचों की शादी हुई, मगर बड़का बाबू के तीनों कमासुत पूतों ने एक पाई भी नहीं खर्च की। बारातियों की तरह सूट-बूट डाटकर आये और बरात बिदा नहीं हुई, बनारस चले गये। जब बँटवारा नहीं हुआ था, हम चाउर-गेहूँ कपार पर लादकर ले जाते थे और कचमन पसिंजर पर चढ़ाकर उन लोगों के क्वार्टर पर पहुँचाते थे। और तो और, तीनों ने जब गाँव का अपना मकान बेचा, तो हमसे कौनो बात नहीं किये। पैसा टेंट में दबाये और रातों-रात बनारस।

‘अब तो भाय, बुढ़ौती आ गई, चौहर के सारे दाँत टूट गये, आँख पर लेंस लग गया। चलने में हँफरी आने लगती है। पार साल तक तो खेल-खलिहान जाकर अनाज बँटवाकर ले आते थे लेकिन अब हिम्मत नहीं होती, सकती जवाब दे गई है। तब भी जाना पड़ता है। एक बात तोहें नाही मालूम होगी, इस साल बेटा लोग भी आपस में बँटवारा कर लिये। हम तैयार नहीं हो रहे थे, मझिलकू कट्टा निकाल लिये। उसकी महतारी भी उसी से मिल गई। बड़कऊ और छोटे कुछ नहीं बोले। मगर बँटवारे पर दोनों राजी हो गये। डेढ़-दो बीघे भी मेरे नाम नहीं छोड़े हैं। एक बेटे के पास गाय और दूसरे के पास भैंस है। गाय की एक ओसर (जवान बाछी) तीसरे ने ली है। तीनों को कोयर-काँटा हम खुद करते हैं। बड़का नाती थोड़ी-बहुत मदद कर देता है। कुल कै निचोड़ ई (बीच-बीच में वे अजाने ही भोजपुरी की छौंक लगा देते हैं) कि सत्रह की उमिर में बैलों की तरह जौन जुआ हमारे कंधे पर बड़का बाबू ने धरा, वह, सत्तर का हो गया हूँ, आज तक नहीं उतरा। आज भी अगर एतना न खट्टू, तो बुढ़िया भोजन भी न देने दे। ‘कापर करूँ सिंगार, पुरुख मोर आन्हर’—जेकर मेहरारू लड़का—दोनों बगावत पर उतारू होय जाँय, त वो आदमी के जिन्दगी में क्या बचा है। इतना बोलकर चुप हो जाते हैं। फिर एक-ब-एक बोल उठते हैं, अच्छा छोड़िये, एक सोहर सुनिये—

*‘छापक पेड़ छिउलिया त पतवन गहबर, पतवन गहबर हो
ललना ताहि तरे ठाढ़ हिरनिया त मन अति अनमन हो। छापक.....*

हिरनी को दुखी देखकर हिरना पूछता है— आगे सुना—

*की तोहे तिवई रे सासू दुख की रे ससुर दुख हो
रानी, की तोर चरहा झुराना, की पानी बिनु मुरझल हो। छापक.....*

हिरनी तब अपने मन का दर्द बयान करती है—

नाही मोहे तनिको बा सासू दुख, नाहिन ससुर दुख हो
नाहीं मोर चरहा झुराना, न पानी बिनु मुरझाइल हो
हिरना काल्हि हवे कुँवरजी के छठिया, तोहइ मारि डलिहै हो

इतना गाते-गाते हुल्लड़ गुरू की आँखें भीग जाती हैं और मेरी आँखों में भी लोर घुमड़ने लगते हैं। गुरू अपने को संयत करते हैं और कहना आरम्भ करते हैं—‘राजा के सिपाही आते हैं और हिरनी के सामने ही हिरना को बाँधकर ले जाते हैं। हिरनी रोती हुई अपने हिरन के पीछे-पीछे चल देती है। दरबार में पहुँचती है, बाकित राजा की तरफ देखती भी नहीं, वह सीधे रनिवास में जाती है, यह सोचकर कि औरत ही औरत की पीड़ा को सुन-समझ सकती है। वह रानी से प्रार्थना करती है कि भले आप मेरे हिरना को मारकर उसका माँस ले लो लेकिन उसकी खलरी (खाल) हमें दे दो। अब सुना— (सुनिये) आगे हिरनी क्या अरज करती है—

खलरी छिउलिया पर टँगतिउँ, त हेरि-फेरि देखतिउँ हो
रानी देखि-देखि जिया समुझइतिउँ, मनहुँ पिया जीयत हो। छाछ....

लेकिन रानी बेरहम, उसकी अरज ठुकरा देती है—

जाहु-जाहु हिरनी, खलरिया नाही देइबि हो
हिरनी, खलरी क खँजरी मढ़इबों, ललन मोर खेलिहई हो। छाछ....
जब-जब बाजै खजरिया, सबद सुनि अकनइ हो
हिरनी ठाढ़ छिउलिया के पेड़ तरे हिरना के बिसूरैली हो। छाछ....

अन्तिम दोनों पंक्तियों को दोहराते-दोहराते गुरू का गला रुँधने लगता है, स्वर मंद हो जाता है और आँखों से आँसू झरने लगते हैं। जैसे हिरनी की व्यथा उनकी आत्मा में समा गई है। मैं अनुभव करता हूँ कि जितनी पीड़ा, जितनी मर्म-भेदकता इस लोकगीत के शब्द-शब्द में समाई है, उससे कहीं अधिक दर्द हुल्लड़ गुरू के गले में है। मैंने इस लोकगीत को अपने मित्र और आकाशवाणी के सर्वोत्कृष्ट लोकगायक स्व० खलील अहमद से भी सुना था, एक नहीं, कई बार किन्तु जितनी कशिश, जितनी मिठास हुल्लड़ गुरू की गायकी में है, वैसी खलील भाई की आवाज़ में भी नहीं थी।

सोहर खत्म हुआ और वे एकबारगी उठे और बिना बोले चल दिये। मुश्किल से दस क़दम जाकर वापस आ गये और असामान्य ढंग से, ताल ठोंकते हुये बोलने लगे—‘जा रहा हूँ, सालों के खिलाफ रपट लिखाने, पुलिस में। पुलिस के समझाने से नहीं मानेंगे तो मुकदमा करूँगा तीनों के खिलाफ। आखिर ज़मीन में मेरा भी हिस्सा होता है कि नहीं ? सारी ज़मीन मेरे नाम थी, मझिले ने कट्टा दिखाकर कहा कि ‘लिखा नहीं त गोली मार देबा’ अब वो सरऊ (साले) के गोली-बनूक कचहरिऐ में देखबा। जेल न भेजवाया त असल बाप का बेटा नहीं।’

मैंने देखा कि बोलते-बोलते वे गुस्से में हाँफने लगे थे। थोड़ी देर पहले अपने गीत से करुणा की वर्षा करने वाले हुल्लड़ गुरु रुद्रावतार धारण कर लिये थे। शायद इन्हीं आदतों के कारण, जब वे आज मुझे पुकारते हुए आये, तो अलका कह रही थी कि हुल्लड़ बाबा पगला गये हैं। सुबह शिवाला से लौट रहा था तो गुरु के पट्टीदार भी इसकी पुष्टि कर रहे थे। हाल-चाल पूछा तो बोले—‘सब ठीक है। एक नई बात हो गई है। हुल्लड़ के लड़कों ने जमीन-जायदाद जोर-जबर करके अपने नाम कर ली और वे बेछिपित (विक्षिप्त) की तरह घूम-घूम दुहाई दे रहे हैं। गाँव वाले मजा ले रहे हैं।’

हुल्लड़ गुरु जा चुके हैं, लेकिन मेरे मन-मस्तिष्क पर एक बोझ-सा छोड़ गये हैं। मैं सोच रहा हूँ कि सारी उमर माथा उठाकर शान-सम्मान से जीने वाला स्वाभिमानी व्यक्ति अपने ही बेटों से हार गया है, बड़ी से बड़ी मुसीबतें भी जिसका बाल बाँका न कर पाई, वह आज उम्र के इस तीसरे पड़ाव पर परिस्थितियों के सामने दीन बना विक्षिप्त-सा घूमने को विवश कर दिया गया है। हुल्लड़ गुरु पगला गये हैं—कहकर गाँव वाले आज मजा ले रहे हैं। जो बुजुर्ग लोग उन्हें प्रेम से दरवाजे पर बिठाकर चाय पिलाते थे और उनसे ज्ञान-विज्ञान, रीति-नीति की बातें सुनाने का आग्रह किया करते थे, आज वे ही उनसे कतराने लगे हैं, बल्कि इस दुष्प्रचार में साझीदार हो गये हैं। क्या विडम्बना है कि किसी समय अस्सी बीघों का काश्तकार रह चुका एक धनी-मानी व्यक्ति आज भूमिहीन होने को मजबूर कर दिया गया और उसके दो जून की रोटी भी बीबी-बेटों की कृपा की मोहताज हो गई है।

दस हजार आबादी वाले इस गाँव में आठ-दस लोग ही ऐसे हैं, जिनसे मिलने-बोलने-बतियाने में सुख मिलता है। हुल्लड़ गुरु भी उन्हीं में से एक हैं। हैं तो इन्टर फेल लेकिन इनके ज्ञानकोष में अनेक अमूल्य रत्न भरे हैं। हिन्दी-अंग्रेजी की अनेक शिक्षाप्रद कहावतें, लोकोक्तियाँ, भोजपुरी मुहावरे, कबीर, रहीम, तुलसी के अनेक नीति और आचार-व्यवहार के दोहे इनकी ज़बान पर हैं। इधर दो-तीन सालों में इन्होंने उर्दू के कई चुनिन्दा अशआर मुझसे लिखवाकर याद कर लिया है। घाघ और भड्डरी की कृषि और मौसम सम्बन्धी कहावतें इनकी ज़बान पर रहती हैं। इन्टर तक की संस्कृत की किताबों की हितोपदेश व पंचतंत्र की कहानियाँ, जो मैं खुद भूल चुका हूँ, आज तक इन्हें अक्षरशः याद हैं। इतनी सारी विशेषताओं के अलावा इनमें अद्भुत कवित्व-गुण है। पिछले साल धान की कटाई के समय जब घर आया था तो वे अपनी भोजपुरी कवितायें सुना रहे थे। गले में इतनी मिठास है कि जब वे भोजपुरी गीत सस्वर गाने लगते थे, गली से गुजर रहे लोग इकट्ठा हो जाते थे। ‘हुल्लड़ बाबा गाना गा रहे हैं, चलो सुना जाय’—कहते हुए अगल-बगल के घरों के बच्चे दौड़ कर आ जाते थे। एक और नायाब गुण है इनमें। हौसला इतना बुलन्द कि परिस्थितियाँ खुद पनाह माँगे। अपने मजबूत इरादों की अभिव्यक्ति वे कभी राम, कभी रावण तो कभी नैपोलियन के कथनों से करते रहते हैं। वर्षों पहले मैंने नैपोलियन का कहा I went, I saw, I conquered’ उन्हें सुनाया था, यह आज तक उन्हें याद है। अत्युक्ति नहीं होगी यदि यह कहूँ कि वे एक चलते-फिरते ‘इनसाइक्लोपीडिया’ हैं।

बेटों के दुर्व्यवहार और स्वार्थपरता से घायल मन लिये हुल्लड़ गुरु मेरे यहाँ से जा चुके हैं, लेकिन मघा के बादलों की तरह अब भी वे मेरे मन के आकाश को घेरे खड़े हैं। मैं चाहकर भी उन्हें अपने से अलग नहीं कर पा रहा हूँ। मैं मन ही मन ठान लेता हूँ कि ऐसे नायाब इंसान को मैं विक्षिप्त नहीं होने दूँगा। उनकी पत्नी-बेटों को समझाऊँगा। मुझे पूरा भरोसा है कि वे मेरा कहा मानकर हुल्लड़ गुरु के साथ प्रेम व सहानुभूतिपूर्वक पेश आयेंगे। इस समय उन्हें दवा नहीं, प्रेम और सद्भाव की ज़रूरत है, साथ ही साथ विकल्प भी सोच लेता हूँ कि यदि आवश्यकता पड़ी तो मैं इलाहाबाद ले आकर इनका, साइकोथेरेपिस्ट को दिखाकर, इलाज़ भी कराऊँगा। हुल्लड़ गुरु गाँव की अमानत हैं और इस खुदगर्ज ज़माने में प्यार बाँटने वाले इस नेक इंसान का स्वस्थ रहना निहायत ज़रूरी है।

मैं द्वार से जूटे कप और गिलास लिये पक्का में रख ही रहा था कि चिन्टू आ गया। उसकी बड़की माई उसे प्लेट-भर छोले और चटनी खाने को देती हैं। खाने के बाद वह प्लेट ग्लास धोकर रखता है और दोनों बाल्टियाँ उठाकर दो बड़े कन्टेनर भर देता है। जाने से पहले बता जाता है कि सरसों खलिदान में फैला दी गई है, एक घाम और दिखाकर परसों ट्रैक्टर से दँवरी करके ओसा दी जायेगी।



दि. 8 अप्रैल, 2012 – रविवार

मेरे पड़ोसी और पट्टीदार बाबू हरवंश सिंह की पोतियाँ अलका और अनामिका अपनी इलाहाबाद वाली आजी (मेरी पत्नी) से इतनी घुल-मिल गई हैं कि दोनों का बस चले तो दिन-रात इन्हीं के साथ रहें। कभी-कभी दोनों में रात में अपनी आजी के साथ सोने के लिए वाक्-युद्ध भी होने लगता है। पत्नी बारी-बारी से दोनों को अपने सान्निध्य का लाभ देती रहती हैं। कल अलका सोई थी इनके साथ।

मैं सुबह बिस्तर छोड़ते ही पत्नी को बता देता हूँ कि आज आठ बजे गेहूँ के खेतों की तरफ जाऊँगा। गठिया के कारण पत्नी को सुबह उठने में तकलीफ होती है। वह अलका को उठा देती है, वह दूध में दलिया पकाकर तैयार कर देती है। मैं नित्यकर्म से निवृत्त होकर प्राणायाम करता हूँ। अलका मीठी दलिया के साथ चाय और नमकीन लाकर मेरी चौकी से सटी छोटी मेज पर ढक कर रख देती है। नाश्ता करके मैं चल देता हूँ। मीलों में फैला सिवान जो अभी पन्द्रह दिन पहले हरियाली की चादर ओढ़े हुये था, आज मटमैले हल्के बादामी रंग में रंगा हुआ है। चारों तरफ, जहाँ भी दृष्टि जाती है, गेहूँ की पकी बालियाँ पछुवा हवा में लहरा रही हैं। लेकिन बटाईदार और किसान इस साल मायूस दिख रहे हैं। फागुन में चली तेज हवाओं के कारण बालियों में दाने हल्के हो गये हैं। फसल अच्छी-बुरी जैसी हो, उसे तो काटकर खलिहान में लाना ही होगा।

आज रविवार है, अभी लोग एक दिन इन्तज़ार करने के बाद सोमवार से गेहूँ की कटनी आरम्भ करेंगे। मान्यता है कि सोमवार शिवजी का दिन है। कोई शुभ कार्य इस दिन सम्पन्न करने से सदैव मंगल होगा। गाँव पूरा शिवभक्त है, क्योंकि 4-5 बीघों के घेरे में बना विशाल शिव-मंदिर सदियों पुराना है, जिसकी स्थापना और प्राण-प्रतिष्ठा काशी के एक सिद्ध सन्त ने की थी। पीढ़ियों से यह किंबदन्ती चलती आ रही है कि मन्दिर में स्थापित विशाल शिव-लिंग को खुदवा कर महात्मा जी इसकी स्थापना अन्यत्र करना चाह रहे थे, खुदाई कराना शुरू भी करवा दिया किन्तु कई पोरसा खोदने के बाद भी जब उसके निचले छोर का पता नहीं चला तो उन्होने खुदाई बन्द करा दी। उसी रात उन्हें स्वप्न में आदेश हुआ कि इसकी स्थापना यहीं करवा दो, यह अनन्त है। शायद इस मन्दिर का माहात्म्य और भगवान शिव की कृपा है कि इतने बड़े गाँव में आज तक कभी खून-खराबा नहीं हुआ। अकाल तो दो-तीन बार पड़ा, लेकिन इतना अन्न हो गया कि लोगों को भूखों नहीं मरना पड़ा। कई बार बाढ़ आई, ओले गिरे, पड़ोसी गाँवों की फसलें बरबाद हो गईं किन्तु इस गाँव का बाल भी

बाँका नहीं हुआ। अभी पाँच साल पहले काशी के ही एक सन्त ने रुद्र एकादश महायज्ञ का आयोजन किया था। पूरे 11 दिनों तक चला यह यज्ञ। सुबह 4 बजे से 8 बजे रात तक लोग यज्ञ मंडप की परिक्रमा और जाप करते थे, उसके बाद काशी-प्रयाग-चित्रकूट आदि से पधारे विद्वानों व संतों का प्रवचन होता था। माटीगाँव के पार्श्ववर्ती बीसों गाँवों के लोगों ने दिल खोलकर चन्दा दिया था। सिर्फ चन्दे में 6 लाख एकत्र हुआ था। इसके अतिरिक्त लगभग 150 क्विंटल आटा और चावल इकट्ठा हुआ था। यज्ञ-मंडप और वेदियों के निर्माण के लिए बंगाल से कारीगर बुलाये गये थे। इतना सुरम्य सुन्दर मण्डप कि आँखें घण्टों निहारें उसका स्थापत्य और थकने का नाम न लें।

प्रवचन करने वालों में एक अष्टावक्र जी थे। गहरे साँवले रंग के, अपने से उठने चलने में पूर्णतया अशक्त। बचपन में शायद पोलियो ने उनका यह हुलिया बना दिया था। जब उनके शिष्यगण पहले दिन उन्हें उठाकर मंच पर बैठाये तो उनकी आकृति देखते ही भीड़ ने एक समवेत ठहाका लगाया। पल भर को मुझे राजर्षि जनक का दरबार याद आया। इसी तरह महर्षि अष्टावक्र जी को देखकर जनक और उनके दरबारी भी हँसने लगे थे। बाद में राजा जनक को उनसे क्षमा-याचना करनी पड़ी थी।

माटीगाँव के मंच पर विराजमान अष्टावक्रजी लोगों के ठहाकों से तनिक विचलित हुये बिना, स्वयं ठहाका लगाने लगे। फिर उन्होंने इशारा किया, लोग शान्त हो गये। मुझे उनका पहला वाक्य आज भी याद है—‘जो सन्तों पर हँसता है, उनका उपहास करता है उसे रोने को आँख नहीं मिलती। जितना हँसना था, तुम लोग हँस लिये, अब तुम्हारे रोने की बारी है।’ फिर उन्होंने मानस से ‘भरतचरित्र’ सुनाना आरम्भ किया और पूरे 11 दिनों तक केवल महात्मा भरत का ही गुणगान करते रहे। उन 11 दिनों में शायद एक भी दिन ऐसा नहीं रहा जब लोग रोने से वंचित रह गये हों। स्त्रियाँ आँचल से आँखें पोंछती और पुरुष अँगौछे से। मैंने महसूस किया कि सचमुच लोगों को रोने को आँखें नहीं मिल रही थी और यही तो इस महात्मा ने भी कहा था। नित्य प्रवचन की समाप्ति वे इस चौपाई ‘भरत सरिस को राम सनेही। जग जप राम राम जप जेही’ से करते थे। उस समय उनकी आँखें स्वयं गीली हो जाती थीं।

नाश्ता करने के बाद मैं शिव-मन्दिर (शिवाला) से होते हुए अपने खेतों की तरफ जा रहा हूँ। सिर अपने आप श्रद्धानवत हो जाता है। खेत मेरे बहुत दूर नहीं हैं। मन्दिर से मात्र 100 मीटर दूर, दक्षिण की ओर। खेतों की परिक्रमा लगा रहा हूँ, तभी अचानक ध्यान हर्टाम्यूलर, जिसे वर्ष 2009 का साहित्य का नोबेल दिया गया था, की ओर चला जाता है। अभी कल रात में ‘नया ज्ञानोदय’ में इस रोमानियाई लेखिका की जीवनी और जीवन-संघर्ष की गाथा उन्हीं की जबानी पढ़ी थी। हर्टा केवल सत्रह साल की थीं जब उन्हें रोमानिया की पुलिस के सुरक्षा दस्ते ने गर्दन दबोच कर उठा लिया था और बिना किसी अपराध के घसीटते हुये विद्रोहियों के कैप में ले जाकर डाल दिया। तरह-तरह की यातनायें दी गईं। हर्टा आज तक उन आतताइयों के हाथों के निशान अपनी गर्दन पर महसूस करती हैं। इन

यातनाओं ने हर्टा के बीतर लड़ने की अद्भुत ताकत पैदा कर दी और आज तक वे अपनी रचनाओं के माध्यम से रोमानियाई जनता में प्राण फूँकती जा रही हैं। इसी क्रम में शोला रुस्तावेली, खरिस्तो बोतिफ, लोर्का, काडवेल, सारो वीबा, बेंजामिन मोलाइस, माखन लाल चतुर्वेदी, आदि कई नाम स्मृतियों में तैर जाते हैं। इन कवियों ने अपने प्राणों की आहुति देकर या जेल की घोर यातनायें सहकर अपने देश को भ्रष्टाचारी क्रूर आततायी शासकों के चंगुल से मुक्त किया।

सोचता हूँ—क्या आज अपने देश को भय, भूख, भ्रष्टाचार और आतंक से मुक्त कराने के लिए कोई विद्रोही कवि या लेखक किसी जनवादी आंदोलन की अगुआई करने व जेल की यातना सहने को तैयार है ? शायद कोई नहीं। आज वातानुकूलित कमरे में बैठकर भुखमरी और बेबसी पर कवितायें लिखी जा रही हैं। देश की कुल आबादी के आधे लोग मानवाधिकारों से वंचित हैं, आदिवासी चकवड़ का साग खाकर जीवन बिता रहे हैं, उनकी स्त्रियाँ शरीर बेचकर अपने बच्चों का पेट पाल रही हैं, बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने कुम्हार, लोहार, बढ़ई, मोची आदि की रोजी छीन ली है, गाँवों के बेकार नवयुवकों का एक बड़ा हिस्सा मुम्बई-दिल्ली-सूरत आदि महानगरों में 2-3 हजार माहवार पर खटनी कर रहा है, और देश के ये बेईमान कमीने शासक विदेशी बैंकों में अरबों-खरबों जमाकर अपनी प्रजातान्त्रिक व्यवस्था पर इठला-इतरा रहे हैं। देश का वित्तमन्त्री 10% धनकुबेरों की आय पर प्रगति का प्रतिमान गढ़ रहा है। देश के 80-90 प्रतिशत दूखेभूखे, अभावग्रस्त कौन हैं, कहाँ हैं, कैसे किन परिस्थितियों में जी रहे हैं—उन्हें निकट से जाकर देखने, इनकी समस्याओं को सुनने की है फुर्सत किसी दिल्ली के 'साहित्येश्वर' को ? आज 500 से ज्यगदा विदेशी कम्पनियाँ हमें आराम से लूट रही हैं और उस लूट में से थोड़ी बहुत जूठन यहाँ के कुक्कुर नेताओं, शासकों को भी डाल दे रही हैं। शासक खुश, कम्पनी का मालिक खुश। दोनों की चाँदी।

एक और विकराल समस्या इधर आ पड़ी है। हमारा चन्दौली व उससे लगा सोनभद्र, मिर्जापुर, झारखण्ड तथा छत्तीसगढ़, बंगाल व महाराष्ट्र के अधिकांश जनपद इन दिनों नक्सलियों के आतंक की चपेट में बुरी तरह फँसे हैं। लोगों की रात की नींद हराम हो गई है। बहुत से किसानों की जमीन नक्सलियों ने हथिया ली है, थोड़ी बहुत जो बची है उसे सस्ते दामों पर उन्हीं के गुर्गों को बेचकर किसान शहरों में बसना शुरू कर दिये हैं। 'लघु मानव' व 'जन के पैरोकारों' को है इसकी कुछ जानकारी ? वे दिल्ली में बैठे ठाठ से अपनी-अपनी साहित्य की दुकान चला रहे हैं और उन 'मठाधीशों' के चले बुकर और नोबेल का सपना पाले विगत कई दशकों से नारी व दलित-विमर्श में लगे हैं। सारी बड़ी पत्रिकायें धन उगाहने के लिये हर हथकंडा आजमा रही हैं। सेक्स आज लेखन के केन्द्र में आ चुका है 'सच का सामना' और 'रिऐलिटी शो' आदि के द्वारा टी.वी. वाले हमें दुराचरण सिखा रहे हैं, निर्वस्त्र कर रहे हैं। गाँधी के सपनों के गाँव उजाड़ हो रहे हैं और शहरों की आबादी में इजाफा हो रहा है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने अपना जाल गाँवों तक फैलाना आरम्भ कर दिया

हैं। किसानों की अच्छी खासी सोना उगलने वाली ज़मीन सर्किल रेट से दोगुना तीन गुना देकर हथियाना शुरू कर दिया है। उन्होंने कम्पनियों में काम दिलाने का प्रलोभन भी दे रखा है। दूसरी तरफ कांवेन्ट स्कूलों के विदेशी-मालिकों ने धुर देहात में ज़मीन खरीदकर इंग्लिश मीडियम स्कूल खोल दिया है। बड़े किसानों और नौकरी पेशेवाले ग्रामीणों के बच्चे अंग्रेज़ बनाये जा रहे हैं। जिन प्राथमिक विद्यालयों से बुनियादी शिक्षा प्राप्त कर गाँवों के लड़के कभी सरकार में ऊँचे-ऊँचे पद पा लेते थे, वहाँ के अध्यापक आजकल दिन भर 'मिड डे मील' की व्यवस्था में जुटे रहते हैं और शाम को सरकारी शराब के ठेकों को आबाद करते हैं। ऐसे ही गुरुओं के हाथों में देश के 90% बच्चों का भविष्य है। पूरा परीक्षा-तंत्र माफियाओं के कब्जे में है। इन माफियाओं के तार शिक्षा-मन्त्री और उसके माध्यम से मुख्यमन्त्री से जुड़े हैं। गाँवों के पढ़े-लिखे ग्रैजुएट-पोस्ट ग्रैजुएट लड़के नौकरी पाने की उम्मीद में दलालों के शिकन्जे में फँसकर बाप से खेत बिकवा दे रहे हैं। दलालों को लाखों देने के बाद भी जब नौकरी नहीं पाते, हताशा में बाप से लड़ने लगते हैं, गाँजा-शराब के आदी हो जाते हैं। हमारी छोटी से बड़ी अदालतें हो, हमारी सरकारी विभाग हों, हर जगह ये सरकारी दलाल हाज़िर हैं। शिक्षा बिक रही है, न्याय बिक रहा है, सरकारी नौकरियाँ बिक रही हैं यानी सारा कुछ पैसे का खेला। देश की जनता दो जून की रोटी के लिये जूझ रही है और नेता देश की जनता से अरबों-खरबों लूट कर विदेशी बैंकों में जमा कर रहे हैं।

अब सिर्फ़ ज़माने का सच बयान करने मात्र से कुछ नहीं होने वाला है। हर भाषा के बड़े लेखकों-बुद्धिजीवियों को एक साझा मंच बनाकर इस 'लूटतन्त्र' के खिलाफ बिगुल बजाना होगा, गाँव-गाँव जाकर जन-जागरण करना होगा और आवश्यकता पड़ी तो जेल जाने को भी प्रस्तुत रहना होगा। यह एक नग्न सत्य है कि पैसठ साल की आज़ादी में हमारे देश का लेखक जन-समस्याओं से निरन्तर भागता रहा है। उसी का दुष्परिणाम है कि हम धीरे-धीरे अपनी भाषा, अपने पहनावे, अपनी वेष-भूषा, अपनी तहज़ीब-सब कुछ से बेदखल कर दिये गये और यही हाल रहा तो एक दिन अपने देश से भी बेदखल हो जायेंगे। हमारे देश के ये मक्कार लेखक इसे 'ग्लोबलाइजेशन' (भूमण्डलीकरण) की स्वाभाविक परिणति मानकर चुप्पी साध लेंगे।

गेहूँ के खेतों को देखते-देखते हर्टाम्यूलर के बहाने, पता नहीं चला और मैंने इतना कुछ सोच डाला। खेतों की एक परिक्रमा पूरी कर लेने के बाद ध्यान आया नसीरपुर वाले चक का, जो कि उसी चकरोड पर वहाँ से एक किलोमीटर की दूरी पर है। और मैं उसी तरफ चल पड़ा। कल सुबह शिवाला पर राम जनम यादव कह रहे थे कि, 'भैया मैं अपना खेत देखने गया था, वहीं आपका भी देखा, इस साल ताल का गेहूँ अच्छा है पलिहर से 1' चकरोड पर 100 मीटर जाने पर एक बाग में शहीद का मज़ार है। मज़ार पर मुसलमानों से ज्यादा हिन्दू चादर चढ़ाते हैं। इस सिवान में ज़्यादातर खेत अहीरों के हैं और उनकी मान्यता है कि शहीद बाबा बड़े जागता (जागृत) देवता हैं, उनकी फसलों की रक्षा करते

हैं। अहिराने के बुजुर्ग छट्टू चचा बताते हैं कि 'बचवा, सहीत बाबा कै महिमा अपरम्पार है। एक बेर चैनपुरवाँ क चोर खीले के सिवान में 'माघ के महीना में अधियैली रात में केराय (केसारी) कबारत रहा, ऊ बिहाने खेतै में मरा पाया गया।' पता नहीं, वह ठंड से मरा कि शहीद बाबा के शाप से लेकिन इतना तो मानना होगा कि उसे चोरी का दंड तत्काल मिल गया, भले आज हमारे देश की बड़ी अदालतें राजनैतिक हस्तक्षेप के कारण एवं दुलमुल सरकारी नीतियों के चलते देश की जेलों में बरसों से मौजमस्ती कर रहे, निचली अदालतों से मृत्यु दंड पाये गुंडों, माफियाओं और दुर्दान्त आतंकवादियों को फाँसी के फन्दे डालने में हीलाहवाली कर रही हों।

शहीद के मज़ार से सटी चकरोड पकड़कर जा रहा हूँ। मुझे अकस्मात् अपने बचपन की एक रहस्यमय घटना का स्मरण हो आया। मैं चौथी कक्षा में पढ़ रहा था, तभी बीमार हो गया। शायद मियादी बुखार था, महीने भर चला। म्यालोडीना की कड़वी घूँट पीते-पीते ऊब गया। जैसे-तैसे बुखार उतरा। माँ ने शहीद बाबा के मज़ार पर घी का दीपक जलाने की मनौती मान दी थी। भादों का महीना, बादल घिरे थे। सूर्यास्त के बाद माँ ने दीपक-बाती और घी की कटोरी ली, और मुझे भी साथ ले लिया। मज़ार पर पहुँच कर जैसे ही दिये में बाती रखी, एक-ब-एक बहुत तेज अंधड़ चलने लगा। किसी तरह दिये में घी डाला, फिर आँचल से घेरकर माचिस जलायी ! तीरी बुझ गई। एक-दो-तीन-चार, सभी तीरियाँ एक-एक कर बुझती गईं। दिया जलने की उम्मीद जाती रही। इसी बीच एक करिश्मा हुआ। एक बहुत बड़ा साँप धीरे-धीरे आया और हाथ-भर दूर रखी कटोरी में फन डाल दिया, कटोरी वजन पाकर खड़ी हो गई। माँ देख नहीं रही थी। मैंने उन्हें जल्दी दूर हटने को कहा। हम दोनों लगभग 10 फुट दूर से यह नज़ारा देखने लगे। अकस्मात वह साँप गायब हो गया। वह किधर गया, न मैं देख पाया, न ही माँ। इधर-उधर देखकर जब मैं कटोरी उठाने गया तो उसमें तनिक भी घी नहीं बचा था, जबकि माँ ने बताया कि कटोरी में अभी भी 3-4 दिये जलाने-भर घी बचा था। घर लौटते समय रास्ते में माँ बताने लगी—'बचवा, सहीत बाबा आपन अंस पाय लेहलन हँ। जब जनलन कि दिया ए आन्ही में नाहीं बरी त साच्छात साँप क रूप धड़ के आपन भोग खुदै ले लेहलन।'

बचपन की यादों में खोया मैं नसीरपुर वाले चक के गेहूँ की फसल देखकर वापस घर आ गया। धूप तेज हो गई थी। स्नान, ध्यान, दोपहरी में विश्राम—इस दैनिक चर्या के बाद शाम को खलिहान की तरफ चला, फैलाई गई सरसों देखने। रास्ते में ही 82 बसन्त पार कर चुके, रिश्ते में बड़े भाई लगने वाले राजनाथ मास्टर साहब का घर पड़ता है। बड़े नेक, परोपकारी और धर्मनिष्ठ हैं भाई साहब। उन्होंने गली में मुझे जाते देख पोते से पूछा कि कौन जा रहा है ? मेरा नाम सुनते ही उन्होंने ज़ोर से आवाज़ लगा दी, यद्यपि मैं खुद खलिहान से वापसी में इनके पास बैठना-बतियाना चाह रहा था। 82 की उम्र में भी लगभग तीन-चार घंटे नित्य धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन में बिताते हैं। जहाँ कहीं कोई शंका होती है, अपनी

डायरी में नोट कर लेते हैं और अधिकारी विद्वान से उस पर चर्चा करते हैं। अंधविश्वासी नहीं हैं। प्राचीन परम्पराओं, मान्यताओं पर वैज्ञानिक दृष्टि से तर्क करते हैं। जो चीज़ गले नहीं उतरती, उसे बिना सन्तुष्ट हुये आसानी से स्वीकारते नहीं। जूनियर हाई स्कूल में अंग्रेजी के अध्यापक रह चुके हैं। इनके पढ़ाये बच्चों में, तीन-चार आई.ए.एस. और कई पी.सी.एस. हैं, जो आज भी इनका चरण-स्पर्श करते हैं। पी.सी. रेन की ग्रामर इन्हें आज तक याद है। कुशल-क्षेम की औपचारिकता पूरी होने के बाद उन्होंने उलाहना के अंदाज़ में बड़े शिष्ट ढंग से कहा—‘इस बार वो शिवाजी सावंत की ‘युगन्धर’ और कृष्ण बिहारी मिश्र वाली किताब, नाम नहीं याद आ रहा है, हाँ, ‘कल्पतरु की उत्सवलीला’ ले आये हों तो पढ़ने को दीजिएगा। ‘मृत्युंजय’ पढ़कर तो मैं अभिभूत हो गया था। अद्भुत पुस्तक है भाई। मैंने पूरी महाभारत पढ़ डाला, दिनकर जी की रश्मि रथी भी पढ़ा, लेकिन मृत्युंजय के आगे सभी फीके लगे। है तो कथा महाभारत की ही लेकिन इसके पढ़ने का जो आनन्द है, वह किसी में नहीं मिला।’

मैं निरुत्तर हो गया, क्योंकि चाहकर भी उक्त दोनों पुस्तकें नहीं खरीद सका था। दूसरों के लिए लगभग एक हजार खर्चने से कतरा भी रहा था। ‘युगन्धर’ और ‘कल्पतरु की उत्सवलीला’ — दोनों पुस्तकें मैं मित्रों—श्री बृज कुमार मित्तल और श्री नन्दल हितैषी—से लेकर पढ़ चुका था। इसके पहले मैंने ‘मृत्युंजय’ खरीदकर पढ़ी थी और गाँव जाते समय राजनाथ भैया के लिये लेता गया था। लगभग एक-डेढ़ वर्ष तक वह पुस्तक गाँव में घूमती रही। दसियों लोगों ने पढ़ा। दो-एक लोग तो उसे दुबारा माँग रहे थे। जब ‘मृत्युंजय’ लम्बे अन्तराल के बाद मेरे हाथ आई तो देखा कि उसके बीसों पन्ने अलग हो गये थे, कई पृष्ठों पर तेल गिरा हुआ था। पृष्ठ-पृष्ठ लाल-हरी रोशनाई से रंगा हुआ था। कुशल था कि एक भी पन्ना हवा के हवाले नहीं हुआ था, अलग होते हुये भी अपने मूल स्थान पर सुरक्षित था। घंटों बैठकर पन्नों को चिपकाया और उस पर मोटे कागज़ का कवर चढ़ाया।

मुझे चुप देखकर राजनाथ भैया खुद बोल पड़े—‘यार दो-तीन सौ रुपये मैं देता हूँ, बाकी आप लगा लो, लेकिन अगली बार आते समय ज़रूर लेते आइये। जब से आपने उसकी तारीफ की है, मेरे अन्दर उसे पढ़ने की तीव्र इच्छा जाग गई है। बुढ़ापे के कारण तो नहीं, पैरों में गठिया हो जाने से मैं शहर बनारस जा नहीं पाता, वर्ना खुद ढूँढ़ लाता।’

मैं उन्हें अगली बार ला देने का आश्वासन देकर घर लौट आता हूँ।



दि. 9 अप्रैल, 2010 – सोमवार

आज सुबह 8 बजे के लगभग निटोहर (भाई के बटाईदार) बोरे में 20-25 बड़े-बड़े बेल लेकर आ गये। गलियारे से ही आवाज़ लगाये—‘मालकिन, कल भइया बोरिंग वाला बेल तोड़वावै बदे बोलले रहलँ, आज परकास (उनका बेटा) से कहिके तोरवाय देहली हँ। बाकित अबही एक्को पक्कल ना हवा। एके प्लास्टिक के बोरा में मुँह बान्ह के रख दें, दो-चार दिन में पक्कै लगी।’ मैं निटोहर से दो-चार अपने लिए रख लेने का आग्रह करता हूँ लेकिन वे कहते हैं—‘भइया, एतना चिन्नी कहाँ पाइब कि रस बनाइब’।

मैं इतने सारे बेल देखकर प्रसन्न हो जाता हूँ। गर्मियों में शहर में होता हूँ तो ढूँढ़कर बेल खरीद लाता हूँ। मुझे अक्सर पेट की परेशानी रहती है। बेल खाता हूँ तो बवासीर परेशान नहीं करती। गर्मी आराम से कट जाती है। यद्यपि पत्नी ने यहाँ आकर चना भुनवा कर सत्तू पिसवा कर धर दिया है मेरे लिये, तो भी उससे वांछित लाभ नहीं होता।

दिन भर कुछ ऐसा घटित नहीं हुआ, जिसका उल्लेख किया जा सके। रात में भोजन करने के बाद दरवाजे पर 15-20 मिनट टहलने की मेरी आदत है। अभी टहलना शुरू ही किया था कि पत्नी आ गयी। बोलीं—‘उत्तर-पूरब में चमक हो रही है। आपको दिखाई नहीं दे रहा है।’ मैं सचमुच कुछ सोच रहा था और मेरा ध्यान उधर कर्तई नहीं गया, जब कि पत्नी ने कमरे की खिड़की से देख लिया। मैंने निगाह उठाई, देखा आकाश का उत्तर-पूर्वी कोना बादलों से ढँका हुआ था और रह-रह कर बिजली चमक जा रही थी। पत्नी आदेशात्मक लहजे में बोलीं—‘टार्च लेकर तुरन्त जाइये और चिन्टू-मिन्टू से कहकर सरसों बटोरवा कर तिरपाल से ढकवा दीजिए। बारिश हो गई तो फूल जायेगी खलिहान में ही।’

मैं 10 बजे रात टार्च और डंडा उठाता हूँ। बटाईदारों के घर जाता हूँ और उन्हें जगा खलिहान लाता हूँ। तभी पुरवइया चलने लगती है और बादल छितराने लगते हैं। धीरे-धीरे बिजली की चमक भी बिला जाती है। दोनों भाइयों ने आश्वासन दिया—‘बड़का बाबू’ देखा, पच्छिम में तरई उग आइल, पानी अब नाहीं बरसी। अगर फेरि घेरिहँ, त हमहन आइके बटोर-तोप देब। तू जाइके आराम से सूता।’

मैं खुश होता हूँ कि इतनी कच्ची उमर में ही ये दोनों किशोर मौसम के मिजाज़ पहचानने लगे हैं। मेरे घर पहुँचते ही पत्नी ने सवाल दाग दिया—‘ढकवा दिये या ऐसे ही छोड़कर चले आये?’ अमूमन मैं झूठ बोलने से बचता हूँ किन्तु पत्नी की आश्वस्ति के लिए आपद

कुछ लोग ऐसे भी :: 30

धर्म का निर्वाह करता हूँ और कह देता हूँ कि ढकवा कर आ रहा हूँ। अगर सच बोल देता तो उन्हें रातभर नींद नहीं आती। नींद न आने का मतलब है उनकी थड़कन और घबराहट बढ़ जाती और तब मेरी चिन्ता दुगुनी हो जाती। गाँव में पचासों लाख लगाकर प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र खोला गया है, लेकिन दो में से एक भी डाक्टर यहाँ नहीं ठहरता। दोनों के वाराणसी में मकान हैं और एक का शायद अपना नर्सिंग होम भी। कम्पाउंडर भी यहाँ से दो किलोमीटर दूर अपने रिश्तेदार के यहाँ चला जाता है। मेरा झूठा आश्वासन कारगर साबित हुआ। पत्नी को रातभर चैन की नींद लगी। वैसे रात में पानी भी नहीं बरसा।



दि. 10 अप्रैल, 2012 – मंगलवार

नित्य की तरह चिन्टू सुबह ही आ गया। पत्नी अलसाई-सी अभी बिस्तर पर ही पड़ी हुई थी। उन्होंने चिन्टू को रसोई की चाभी दी और चाय-चीनी के डिब्बे निकाल चाय बना कर चाय के साथ रात की रोटियाँ खाने को कहा। उसने दो चाय बनाई एक मुझे दी, दूसरी अपने लेकर रोटियाँ खाई। कमरे में आ कहने लगा—‘आज, बड़का बाबू ! सरसों की दँवरी और ओसावन हो जायेगी। आप शाम 5 बजे के करीब आइयेगा। वहीं चच्चा की आँटा-चक्की पर जोख कर अधिया लेंगे। आपका हिस्सा बोरों में भरकर घर धरा देंगे, अपना, मौका मिला तो ढोकर ले जायेंगे, नहीं तो सबेरे तड़के ढोयेंगे।’

मैं प्राणायाम समाप्त कर श्वासन में चौकी पर लेटा हुआ था, तब तक ‘पुजारी, पुजारी’ पुकारते हुये हुल्लड़ गुरू आ गये। मैंने उन्हें कमरे में ही बुला लिया। आज वे प्रसन्न दिखाई दे रहे थे, चेहरे पर किसी दुःख-दर्द की छाया तक नहीं थी। उसी समय पत्नी की मुँहबोली पोती अलका आ गई। मैंने उससे दो गिलास बेल का शर्बत बनाने को कहा। शर्बत पी चुकने के बाद हुल्लड़ गुरू बोले—‘काम न हो तो आइये, घुमा ले आवें आपको।’ मैं उनका आग्रह टाल नहीं सका। बतियाते हुए हम लोग नहर की पटरी पकड़कर पूर्वी दिशा की ओर बढ़ गये।

ठकुराने (ठाकुरों की बस्ती) से बाहर निकलते ही नहर की पटरी की बायीं तरफ छोटी चमरौटी है और पचास गज पूरब जाने पर दायीं तरफ बड़ी चमरौटी। हम लोग उसी के सामने से गुजर रहे थे, तो अपने हलवाहे मँगरू और उनके लड़कों गत्ती (राम गत्ती) और कन्ता की सुध आ गई। ये तो पता था कि आज तीनों में से कोई जिन्दा नहीं है, किन्तु उनके परिवार में आजकल कौन बचा है ? यह जानने की उत्कंठा ज़ोर मारने लगी। जब से भाई ने इधर की 11-12 बीघे ज़मीन बेचवा दी है, इधर आना लगभग बन्द-सा हो गया था। एक-दो बार चन्दौली की बस पकड़ने को इधर से गुजरा भी, लेकिन ऐसा संयोग नहीं हुआ और समय भी नहीं था कि हलवाहे का घर-द्वार देखूँ, उनके बेटों का हाल-चाल पूछूँ। आज पूरे गाँव की खेती ट्रैक्टरों से हो रही है, हल-बैल कब के बिक चुके। चमरौटी घूमने के पीछे एक जिज्ञासा यह भी देखने की थी कि वहाँ दलितों की क्या स्थिति है ? आजादी के छः दशकों में दलितों व खेतिहर मजदूरों के उत्थान के लिए पचासों सरकारी योजनायें बनी, बिगड़ी, और अभी कई चल भी रही हैं, इनका इन्हें कितना लाभ मिला ?

हुल्लड़ गुरू को पूरे चमरौटी की नवैयत मालूम है। वे बताते चलते हैं कि यह फलाँ-फलाँ का मकान है। मैं देखता हूँ कि आज भी अधिकांश कच्चे घरों की छान्ह नहीं उतर पाई है, कइयों ने छान्ह की जगह करकट (सीमेन्ट शीट) डाल ली है; वह भी सिर्फ इसलिए कि गाँव वालों ने गन्ने की खेती ही बन्द कर रखी है। जब गन्ना नहीं होगा तो छान्ह के लिए पाती कहाँ मिलेगी ? जिनके यहाँ एकाध बच्चा नौकरी-पेशे में है, उनके एक-दो कमरे पक्के हो गये हैं, शेष हिस्से पर आज भी खपरैल या छान्ह बरकरार है। आज भी लगभग सभी भूमिहीन हैं, या तो शहरों में जाकर मजदूरी करते हैं या ठाकुरों की ज़मीन अधिया बटाई पर लेकर कमा-खा रहे हैं। डेढ़-पौने दो सौ परिवारों में से तीन-चार के पास होंडा है। दो इंजीनियर हैं, जो कार भी रखे हुए हैं। इनके शहर में भी पक्के मकान हैं और गाँव में भी। हुल्लड़ गुरू इंजीनियरों का घर दिखाते हुए बताते हैं कि 'ये दोनों इतने मक्कार हैं कि जब शहर में मकान बनवा रहे थे, सारे मजदूर इसी चमरौटी से ले गये। उन्हें लालच दिया कि सिंचाई विभाग में कैचुअल में रखवा देंगे। बेचारों ने भाईबन्दी में मजदूरी भी नहीं लिया और नौकरी भी नहीं पाये। वे आज तक इन दोनों इंजीनियरों को गरियाते हैं। इनके चचेरे भाई तो इन्हें पानी पी-पी गाली देते हैं।' हुल्लड़ गुरू से इतना सब सुनने के बाद मैं सोचता हूँ कि पैसा आने के बाद व्यक्ति कितना मक्कार और स्वार्थी हो जाता है कि भाई का ही शोषण करने लगता है।

मैं गुरू को साथ लिए हुए चमरौटी के दक्षिणी छोर पर पहुँच जाता हूँ, जहाँ पर मेरे हलवाहे मँगरू का मकान है। मैं बता चुका हूँ कि मँगरू और उनके दोनों बेटों को दिवंगत हुए अर्सा गुजर चुका है। बड़े बेटे के दो और छोटे के एक लड़का है। सभी अलग-अलग। बड़े के दोनों बेटे बहादुर और पंचम सजातीय गाँव प्रधान के ट्रैक्टर पर लेबर का काम करते हैं और छोटे का बेटा खरपत तिपहिया रिक्शा ट्राली चलाता है। पहले वह प्रधान रोपन राम के यहाँ बेगारी करता था। उसके बहुत गिड़गिड़ाने पर प्रधान ने बैंक से लोन दिलाकर यह ट्राली खरीदवा दी। खरपत की उम्र अभी सत्रह साल है, लेकिन दो साल पहले बाप के अकाल काल-कवलित होने के बाद से ही, जब वह मात्र 15 साल का था, खट रहा है। नहीं खटता तो दो जून की रोटी कैसे मिलती और दो बड़ी बहनों का गवना कैसे होता ? हमारा संविधान और मानवाधिकार आयोग बाल-श्रम की इजाजत नहीं देते लेकिन हमारे गाँवों-शहरों में हजारों-लाखों गरीब परिवारों की उनके घरों के बच्चे ही रोटी चला रहे हैं। वे न खटें तो शाम को किसी घर में चूल्हा भी न जले। खरपत को मैं नहीं पहचानता लेकिन वह मुझे जानता है। हो सकता है, भाई के पास हारे-खगे आता-जाता हो। मैं पड़ोस के एक बुजुर्ग से उसके बारे में पूछ ही रहा था कि वह खुद हाज़िर हो गया। एकदम दुबला-पतला, क्षीणकाया। 'मालिक सलाम' कहकर खाँसने लगा, दो-तीन मिनट तक लगातार खाँसता रहा। मैंने कहा—'तुम तो चन्दौली में ट्राली चलाते हो। आज नहीं गये क्या ?'

'मालिक ! दमा का रोग लग गयल हौ। अक्सर परेशान करत रहत हौ। जाड़ा में दूहै लगत हौ त जान से भेंट होय जात है। ए साल गर्मियें में हलकान कइले बाया'

‘कोई दवा नहीं खा रहे हो ? गाँव में अस्पताल है, वहाँ से दवाई क्यों नहीं ले आते ?

‘मालिक वहाँ कै दवाई खात रहित त अब ले कैलीं (श्मसान) पहुँच गयल रहित। चन्दौली बड़का अस्पताल क पर्चा बनल हौ, बाकित उहाँ भी पूरी दवा नाहीं मिलत, हर महिना डेढ़-दो सौ के खरिदही के पर जात हौ।’

उसके पिता कन्ता का चेहरा मेरी स्मृति में कौंध जाता है। वह टीबी का मरीज़ था। मैं बनारस मुख्य चिकित्साधिकारी का आडिट कर रहा था। उसे बुलवाकर क्षय-रोग विशेषज्ञ से दिखवा दिया था। दवा तो उसे वहाँ से हर महीने मिल जाती थी, किन्तु डाक्टर द्वारा बताये गये भोजन—अंडा, मांस, मछली की व्यवस्था नहीं कर पाया गरीब और न ही पत्नी से दूर रह सका। जवानी में ही चल बसा। खरपत को देखकर मुझे कन्ता की याद आ गई। पता नहीं, यह किशोर भी जवान हो पायेगा या नहीं !

खरपत से मिलकर लौट रहा हूँ। रास्ते में मेरा 5 बीघे का चक है जो बिक चुका है। उसे देखते ही आँखों में आँसू आ जाते हैं। मुझे अपने हाड़तोड़ परिश्रम से 15 बीघे ज़मीन खरीदने वाले पिता और चाचा की याद आती है। उन्होंने खून-पसीना एक करके सिर्फ़ खेती की कमाई और मितव्ययी ज़िदगी बसर कर इतनी सारी जमीन खरीदी थीं, किन्तु छोटे भाई ने एक झटके में उनके ज़िदगी भर के परिश्रम पर पानी फेर दिया। मुझे याद है, इस चक के लिये ‘तीन पट्टी’ वालों से लाठी भी चली थी, सहायक चकबन्दी अधिकारी घूस खाकर उस पट्टी के एक व्यक्ति के नाम करना चाह रहा था, जबकि मेरी यहाँ ज्यादा ज़मीन थी। अधिकारी मार खाया, तब कहीं रास्ते पर आया। मैं इस घटना को हुल्लड़ गुरु को बताता हूँ। वे इस चक के बाबत एक नई बात बताते हैं—‘इस चक की और 6 बीघे वाले की भी, जो जलखाता के पूरब है—बिक्री में आपके छोटे भाई ने लम्बी दलाली लिया था, जनार्दन सिंह (क्रेता) से। आज से 20 साल पहले जब ये दोनों बिके, तभी इनकी कीमत 10 लाख से कम नहीं थी। आज की तारीख में यह अकेला चक 80 लाख कीमत का है और दूसरा 6 बीघे वाले का दाम आज 36 लाख है। आपके दूसरे चक के और पूरब 30 हजार रुपये विस्वा ज़मीन बिकी है, अभी थोड़े दिन पहले।’

चमरौटी से लौटते समय नहर की पटरी के पूरब निगाह जाती है। हुल्लड़ गुरु के बाबा का खुदवाया कुआँ है। कुएँ की पौदर को पाटकर डॉ. अम्बेडकर की विशाल प्रतिमा स्थापित कर दी है चमरौटी वालों ने। इतना ही नहीं, इसे एक मन्दिर का रूप भी दे दिया है। हुल्लड़ गुरु बताते हैं कि यहाँ पर रोजाना चमरौटी के नवछेड़िये जुटते हैं, गाँजा पीकर हरिकीर्तन गाते हैं या मौसमी गीत—कभी फगुआ, चैता, कभी कजरी, तो कभी बिरहा। ज़्यादातर हरिकीर्तन ही गाते हैं। गाने वालों में ज़्यादातर खेतिहर मज़दूर हैं। रोज़ कमाने, रोज़ खाने वाले।

घोर अभाव में भी ज़िदगी के प्रति गहरी आस्था का भाव। मैं मन ही मन इनकी जिजीविषा और जीवन-संघर्ष की दाद देता हूँ। कठिन ज़िदगी जीने का नायाब तरीक़ा। रात

हरिकीर्तन करना, रूखा-सूखा भोजन करके निश्चिंत सो जाना। सुबह फिर हँसिया-बाँकी लेकर लवन करने में जुट जाना। इसी तरह एक-एक कर जीवन के कड़े-कोस कटते जाते हैं। न ज़िन्दगी इन पर कभी भारी पड़ती है, न ये ज़िन्दगी पर। जैसे ज़िन्दगी ने खुद इनसे समझौता कर लिया है। 'गरीबी हटाओ' के रास्ते 'सर्वोदय', और 'अंत्योदय' के बीच से होते हुये 'नरेगा' और 'मनरेगा' की मंज़िलें तय कर चुकीं सरकारी विकास योजनाओं से राजनेताओं, सरकारी दलालों, बड़े अधिकारियों एवं ग्राम-प्रधानों-ब्लाक-प्रमुखों की अमीरी में भले दिन दूना, रात चौगुना इज़ाफा हुआ हो, इन अस्सी प्रतिशत गरीब मज़दूरों का जीवन-स्तर क़तई नहीं ऊपर हुआ। अधिसंख्य को तो इन योजनाओं के नाम भी नहीं मालूम हैं। प्रौढ़ शिक्षा से होकर सर्वशिक्षा अभियान तक पहुँची शिक्षा-योजनायें इन्हें आज तक अपना सही नाम भी लिखना नहीं सिखा पाई, भले चंद दलित उच्चाधिकारियों के बेटे कान्वेंट में शिक्षा पाकर ऊँचे ओहदे हासिल करने में समर्थ हो गये हों। जिस मुल्क के अर्थशास्त्री और योजना आयोग के सदस्य ए.सी. कमरों में दारू की चुस्कियाँ लेते हुए गरीबी की परिभाषा और गरीबी रेखा के नीचे (B.P.L.) रहने वालों की संख्या तय कर रहे हैं और जिन्होंने कभी हमारे गाँवों के करोड़ों-करोड़ 'खरपतों' और 'बिपतुओं' को देखा तक नहीं है, उनके जादुई आँकड़ों में कितनी सचाई होगी, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

मैं हुल्लड़ गुरु से, हर दलित को साल में 100 दिन काम देने वाली 'मनरेगा' के बारे में जानकारी लेने की नीयत से पूछ देता हूँ—'हमारे गाँव के प्रधानजी तो दलित हैं। इनके कार्यकाल में तो दलितों को खूब काम मिल रहा होगा ?'

'काम नहीं, बाबाजी का घंटा मिल रहा है। रोपन बहुत सातिर हौ। जवन-जवन नवछेड़िया एकरे एलेक्सन में सहजोग कइले हँउवन, परचार से लेके पर्ची बँटले तक, उनहीं क नाँव रजिस्टर में दर्ज कइले हौ। परदेसी राम (चुनाव में प्रतिद्वन्द्वी) क साथ देवै वाले ओकरे रजिस्टर से गायब। परदेसी विचारा एड़ी-चोटी क जोर लगाय देहलस, पचासन, हजार रुपया क त सराब पिआय देले होई। कौनो विभाग में बड़ा बाबू रहल हऽ, खूब लुटले रहल, अउर रिटायर भइले पर बीसन लाख पवले रहल हऽ। ओकर बड़का लड़का जौन विकलांग हव, रेलवे में अधिकारी हव। ऊ बड़ा कानूनबाज हव, परदेसी के समझावत रह गयल कि एक्को ठाकुर तोहके ओट नाही देइहैं, झुट्टै इनके रोज साँझ के सराब पिआवैला। अउर इहै भयल, एक्को ठाकुर परदेसी के ओट नाही देहलैं।' (हुल्लड़ मूड में आते हैं तो खड़ी बोली, नहीं तो भोजपुरी बोलते हैं)

'अच्छा गुरु, यह बताओ की ठाकुरों ने ऐसा क्यों किया ? मैं पूछ बैठा—'यह गद्दारी नहीं है क्या ?'

'जेही क कौड़ा तापै वोही क चूतड़ दागै' — इसी का जमाना चढ़ा है आजकल। घर के बटवारे में आपै के भतीजा अपने ही ससुर के सामने आपको जलील नहीं किया ? बड़का भैया के मरने के बाद आपने इन्हीं भतीजों को इलाहाबाद रखकर पढ़ाया लिखाया। इस

काबिल बनाया कि नौकरी पा सके। आपकी नेकी का कैसा फल मिला ?’ गुरु रौ में बोले जा रहे थे, मैंने टोक दिया—‘परदेसी राम की जमानत तो नहीं ज़ब्त हुई ?’

‘काहे, जब पूरी ठकुरहन ने एकवट्ट होकर रोपन को ओट दे दिया, तब परदेसी की जमानत कैसे बचती ? वो तो जप्त होनी ही थी, और हो गई। परदेसिया पानी पी-पी कर ठाकुरों को आज तक गरिया रहा है।’

धूप तेज़ लग रही थी और प्यास भी। हम लोग बतियाते हुये वापस आ जाते हैं। मेरा मकान पहले पड़ता है। मैं गुरु से पानी पीकर जाने का आग्रह करता हूँ। वे मुड़ जाते हैं। मैं उन्हें अपने कमरे में बिठाकर पानी लेने आँगन में जाता हूँ। पत्नी 8 बजे से ही नींबू का शर्बत बनाकर प्रतीक्षा कर रही थीं। मैं दो गिलासों में शर्बत भरकर कमरे में आ जाता हूँ। वे शर्बत पीकर घर लौट जाते हैं और मैं थोड़ा विश्राम करने की सोच चौकी पर ही लेट जाता हूँ। करवट बदलते ही निगाह घड़ी की तरफ जाती है। पौने ग्यारह बज रहे थे। मैं लोटा-बाल्टी लेकर नहाने चल देता हूँ। दरवाजे पर गौरी नट बैठा था। हमारी ही उम्र का, लेकिन अभी हाथ-पैर से एकदम चुस्त-दुरुस्त। मुझे देखते ही पहचान जाता है और खड़े होकर सर नवाकर मुगलिया अंदाज़ में अभिवादन करता है—‘मालिक सलाम !’ मैं उसके सलाम का जवाब देता हूँ। मुझे याद नहीं है कि इसके पहले गौरी को कब देखा था ? गौरी को देखते ही मैं बचपन की यादों में खो जाता हूँ। मैं प्राइमरी में पढ़ता था, गौरी और उसकी दो-तीन बहनों विद्यालय पर भीख माँगने सुबह-सुबह पहुँच जाया करते थे। ये कभी कलइया मारने लगते थे, कभी मुँह से बाजा बजा कर गाना गाने लगते थे। हम लोग कभी लाई-चना, कभी ढूँढ़ी-ढुंढा इन्हें दे देते थे।

‘गौरी, आजकल क्या कर रहे हो ?’ मैं पूछता हूँ।

‘मालिक, भैंसही वाले तिवारी जी के हाथी क पिलवानी करीथौ। वह कुछ अवधी, कुछ भोजपुरी मिलाकर बताता है। ‘जब से बड़का ठकुराई आपन हाथी बेच दीहेन, तबै से हम भैंसहीं चला गयेन। तिवारी जी के हाथी पर बड़का भाई रहलेन, ऊ गुजर गयेन। तिवारी जी सनेसा भेजेन, हमहूँ बेकार बैठे रहे, चला गयेन सरकार !’

‘कितने साल से हाथी की फीलवानी कर रहे हो गौरी ?’

‘इहै करीब 40-50 साल से मालिका बारह-तेरह साल कै रहे तबै नंदू भइया के साथ ठकुराई के हाथी पर जाये लगे।’

मेरी निगाहों में 7-8 साल का गौरी जो बहनों के साथ भीख माँगा करता था, तैर जाता है। वही भीख माँगने वाला बालक पचासों साल से हाथी जैसे विशाल जंतु को साथे हुये है। मुझे शेरशाह सूरी के बचपन की वह घटना याद आती है—शेरशाह जब 5-6 साल का बच्चा था, एक दिरहम (सिक्का) के लिए रो रहा था। एक सूफी सन्त उधर से गुज़र रहा था, उसने रोते हुये बच्चे की खुली हथेलियाँ देखकर कहा था—‘या अल्लाह ! ये कैसा अज़ब खेल है तुम्हारा, कि हिन्दोस्तान का शहंशाह (होने वाला लड़का) एक दिरहम के लिए

रो रहा है।' गौरी शहंशाह तो नहीं हुआ लेकिन बचपन में भीख माँगने वाले बच्चे ने शहंशाहों की सवारी हाथी पर बैठने का सौभाग्य ज़रूर हासिल किया।

मुझे नटों की ज़िन्दगी के बारे में अचानक दिलचस्पी पैदा हो जाती है। लेकिन चूँकि देर हो चुकी थी, सूरज सर पर आ गया था, मैं गौरी को शाम को मिलने को कहकर नहाने चला जाता हूँ।

खाना खाने के बाद कमरे का फर्श धोकर तकिया ले ज़मीन पर ही पड़ गया। नींद नहीं आ रही थी। 'नटवा की सिरकी' से ध्यान हट ही नहीं रहा था। बचपन के देखे नटों के चेहरे एक-एक कर यादों में तिरने लगते हैं। एक जंगी पहलवान (गौरी के बाबा) से आज नटों का यह कुनबा सैकड़े की तादाद में पहुँच गया है। जंगी के लड़का मिश्री नट और मिश्री की एक बीबी से नन्दू, फल्लू और गौरी, दूसरी से बाँड़े और घोंचू। सारे चेहरों को एक-एक कर समोती आँखें कब बन्द हो गईं, पता ही नहीं चला। सोकर उठा तो शाम के 5.30 बज चुके थे। पानी पी रहा था, तभी छोटे भाई के पोते अनन्त ने बताया—'बाबा आपको कोई द्वार पर पूछ रहा है।' पानी पीकर द्वार पर गया, देखा गौरी नट हाज़िर। मैंने गौरी के लिए गुड़ पानी माँगाया। गौरी गुड़ खाकर चापाकल पर चला गया वहाँ से लौटकर बोला—'सरकार हम राउतपुर से आय रहे हैं, पियास लगी रही, एतना पानी से न जात, एही से कल पर चला गये। हँ, त बतावै, काहे बदे बुलाये रहेन ?'

'तुम लोग पाँच भाई थे न ?'

'हाँ, मालिक, अपनी माई से तीन अउर दुसरकी से दुइ। हमरे दोनों बड़का भाय नन्दू और फल्लू त कबै गुजर गयेन, अउर छोटकी महतारी के बाँड़े और घोंचू अबै सही सलामत हैन।'

मुझे ध्यान आता है बाँड़े का। बाँड़े बहुत सुन्दर था, एकदम गोर-अंगार, लम्बी छरहरी देह। बुलबुल दादा बताते थे कि बँड़वा महादेवसिंह से जनमल हौ। एकर महतारी भी बहुत सुन्दर रहल। साइत (शायद) रंडी-पतुरिया, कत्तौ से बहकल-बिलाइल आय गइल पोखरा पर। मिसिरिया नट क मेहरारू मर चुकल रहल। एके देखलस, राख लेहलस। ढोलक बजाय के गावै बहुत बढ़ियाँ। एक दिन गावत-माँगत पहुँच गइल महादेव के दुआरे। ऊ एके देखतै रीझ गइलै। ओकरे बदे बँसवारी के पास घर बनवाय देहलै। ऊ वोही में रहै लगल। जब बँड़वा पेट में आयल त मिसिरिया के बलवाय के सौंप देहलै।'

बाँड़े आल्हा बहुत अच्छा गाता था। बरसात के दिनों में नटाने आल्हा सुनने वालों की भीड़ लगी रहती थी। बाँड़े से बिना तीन-चार चौकी आल्हा सुने लोग उठते नहीं थे।

मैं गौरी से बाँड़े का हाल-चाल पूछता हूँ। गौरी बताता है—'बाँड़े भाई क त ए बखत पूछे के नाँय बा। कई लाख के मिल्कियत बनाय लिहेन हँ, मोगलसराय में। सड़क पर मकान, मकान में दुइ ठे दुकान। दुइ लड़का—एक किराना क कारबार करत है, दुसरका रेडीमेड कपड़ा क दुकान खोले बा।'

‘आखिर, इतना पैसा कहाँ पाया बाँड़े ने ?’

‘मालिक, लम्बी कहानी है’, कहकर गौरी हँसने लगता है, फिर शरमाते हुये बताता है— बाँड़े भाई बिहार के कौनो गाँव में आल्हा गावत रहेना। उहवें से एक जोलहिन उढ़ार लायेना। जोलहिनियाँ एनके पाछे परि गई। ओकर मरद परदेस में कमात रहा। एक रात अपन दुइ ठे लड़किनी छोड़ एनही के संगे भाग आई। ओह बखत ओकरे देह पर 5-6 थान सोने का गहना रहा। ओहि गहना बेच के बाँड़े भाई अपन एतना कारबार फैलाय लिहेना।’

अभी चार साल पहले माँ की तेरही पर मैंने सैकड़ों नटों को खाना खिलाया था। अगली सुबह बसिऔधा भी लेने आये थे सब। उनकी इतनी बड़ी तादाद देखकर मेरे मन में कौतूहल होता है कि आखिर इन सबकी रोटी कैसे चलती है ? इनकी आय का साधन क्या है ? यदा-कदा मिलने वाले शादी-विवाह, मरन-करन के भोज से तो इनका जीवन-यापन होता नहीं होगा, फिर किस कमाई पर इतने सारे मुँहों में कौर जाता होगा ?

मैं गोरी से पूछ बैठता हूँ—‘इतने सारे लोगों का खाना-दाना कैसे चलता है ?’

‘मालिक, एक धंधा होय तो बतावें। सबकै अलग-अलग धंधे हैं। नन्दू और फल्लू के लड़के बाबू लोगन से अधिया पर भैंस-गाय खरीदत हैं, चुरुक-चुनार के जंगल में चरावत हैं, जब बियात हैं, तब बेचि के कुछ मुनाफा देके बाबू लोगन के पैसा लौटाय देत हैं। हमार एक लड़का हमरे साथ हाथिये पर है और दुइ लड़के आप लोगन क बाँस खरीद के झौवा टोकरी बनावत हैं, वोके सहर-बाजार में बेच आवत हैं और मालिक ! जौन उमिर में आप लोगन क गदेल पढ़त-लिखत हैं, हमने के गदेलवन कुछ खेल-तमासा करके थोड़ा-बहुत कमाय लेत हैं। कुछ भाइयन के 15-16 नात नतकुर हैं। ई कुल मिला सबेरवें पसीजड़ (पैसेंजर) पकड़ के मोगलसराय चला जात हैं। रेलगाड़ी में करतब देखावत हैं, कुछ झाडू लगाय के भीख माँग लेत हैं। और दुइ-तीन बदमासन के चंगुल में फँस के पाकिटमारी सीख गये हैं।’

‘पाकिटमारों को पुलिस पकड़ती नहीं क्या ?’

‘नाहीं सरकार, पकड़त काहे नहीं है। पकड़े जाये पर गिरोह का सरगना खुदै छोड़वाय देत है। ऊ हर महीने पुलिस को पैसा पहुँचावत है।’

‘तुम लोगों की औरतें कुछ नहीं करती ?’

करत काहें न हैं मालिक, ओनहन में भी कुछ महुआ-परास के पत्ता कै दोना-पतरी बनाय-बेच लेत हैं, कुछ बाँस चीर के डलिया-मौनी बनाय लेत हैं और कइयन मिला डोल-मजीरा लैके चनउली (चंदौली) सकलडीहा चली जात हैं। ऊहवां कोट-कचहरी आपिस-सगरौं घूमि-घूमि के गावत बजावत हैं।’

‘औरतें कितना कमा लेती हैं, गौरी ?’

‘कौनो ठीक नहीं है मालिक, कबौ पचासो पाइ जात हैं, कबौ सै-दुइ सै भी मिल जात है ?’

तभी अचानक याद आता है कि गौरी के बाप मिश्री का मकान तो इन्टर कालेज परिसर के भीतर था। मेरे बड़े भाई मैनेजर थे। शायद उसी वक्त वह मकान मिश्री को मुआवज़ा देकर गिरा दिया गया था और मिश्री को विद्यालय में ही चौकीदार की नौकरी भी दे दी गई थी। ग्राम पंचायत ने मकान बनाने के लिए उन्हें कहीं ऊसर पर ज़मीन भी दी थी। लेकिन मुझे नहीं मालूम कि कौन-सी ज़मीन दी गई थी, जहाँ इतना बड़ा कुनबा रहता है ? मैं इधर कभी गया भी तो विद्यालय के मैदान में घूम-टहल कर चला आया हूँ। नटों की बस्ती के बारे में जानने की उत्कंठा होती है। मैं गौरी से पूछ बैठा—‘तुम लोगों को पंचायत ने कौन-से ऊपर पर बसने को ज़मीन दी है ?’

‘मालिक, आज तलक आपके इहाँ नहीं मालूम भवा कि हमने के कहाँ जमीन मिली बा। अरे इस्कुलिया के उत्तर जवन हस्टल है, वो ही के ठीक पीछे वाले ऊसरे पर जहाँ हमने के लड़िकपन में रहे बहुत होत रही, एकदम चानी जैसन उज्जर। मालिक ओसे कपड़ा बहुत साफ होत रहा’, गौरी अरथा-अरथा कर ऊसर के बारे में तफसील से बताता है।

‘ऊसर पर कितने मकान बने हैं तुम लोगों के ?’

‘मकान के नाम पर मालिक ! बिना अँगना कै छोट छोट चार-पाँच ठे कच्ची कोठरी बनी बा अउर ओकरे सामने लम्बे पतलो क मड़ई है।’

‘इतनी कम जगह में सैकड़ों लोग कैसे रहते हैं ?’

‘दीने में त सरकार, बूढ़ अउर बेरमिहन के छोड़ सब सहर बजार अपने-अपने धंधा पर चला जात हैन, रात में रहत हैं। गरमी में सबै बाहर सूतत हैं, जमीनै पर। जाड़ा अउर बरसात के रात में बहुत परेशानी होत है मालिक !’

‘जाड़ा-बरसात में कैसे सो पाते हैं सब ?’

‘हमार नट जात घुमन्तू है मालिक ! राउटी-कनात संगे रहत है, जरूरत होत है त चार-बड़ी कील, चाहे चार खूँटी गाड़ के रउटी बान्ह दीन्ह जात है और वोही में रात बिताय लेत है। कब्बों-कब्बों पानी रात भर बरसत है, अउर रउटी बोथा होय जात है, हमने भाग के इस्कुलिया के बरमदा में चला जात हैन और गदेल पंचाइत भवन में। ऐसहीं मालिक पूस-माघ में जब पाला गिरै लागत है, बड़ी परेशानी होत है। केतने नन्हके गदेल सीत खाय के मर जात हैं। बगलै में अस्पताल है, कनपोटर हमने के गदेलवन के मार के भगाय देत है, दवाइयो नहीं देतेन। हमरे बाबू के त आप देखे रहेन, वोहू ठंडिऐ खाय के मुअलै। अस्सी पार कय चुके रहेन। कथरी ओढ़ाय के हम डागदर साहेब के यहाँ लै गये, आलौ नहीं लगायेन, कहै लागेन-बाहरै बइठाओ, एकरे देह से बास आवत है और घिनाय के मुँह बिचकाय लिहेन। जल्दी-जल्दी परचा पर दुइ तरह क गोली खाए के लिख दिहेन, पीयै वाली कवनो दवाई नहीं लिखेन। सीत पचिगै। मालिक, बाबू के पिसिन क बहुत सहारा रहा, वोहू बन्द होय गई।’

‘अच्छा गौरी, यह बताओ, कि मिश्री के मरने पर तुम लोगों में से किसी को क्यों नहीं रखा मैनेजर ने ? तुम्हारा तो मकान भी विद्यालय ने ले लिया था।’

‘नंदू भइया चौकीदारी के नौकरी बदे मनीजर साहब के दुआरे जाय के कई दिना गिड़गिड़ायेन, बाकित ऊ टस्स से मस्स नाहीं भयेन। कहै लगे, तुम लोग मकान कै मुआवजा अउर घर बनावे बदे जमीन—दूनो पाय गये हो, तब काहे आये हौ। ई त कमेटी नाहीं कहे रही कि मिसिरी के मरे पर उनके लड़कौ के चौकीदारी दीन्ह जाये।’

‘गौरी, तुम लोगों के मकान से सटा प्राइमरी स्कूल है, इंटर कालेज है, आज तक तुम लोगों के लड़के-पोते स्कूल नहीं गये, जबकि फीस भी नहीं लगती। बच्चों को पढ़ाते क्यों नहीं हो तुम लोग ?’

‘मालिक, इस्कूल जइहैं, त पेट-तन कैसे चली ? अइसे त खेल-तमाशा कइके, गाड़ी में झाड़ू लगायके, भीख माँग के कुछ कमाइयो लेत हैं। इस्कूल जाये लगिहैं त पेट कैसे भरी ! परधान जी नाम त सभन्ह के लिखाइ दिहे हैं, अ ईहो बताय दिहे हैं कि दुपहर में खिचड़ी-दरिया बँटत है ऊहाँ, थरिया लेके सब आय जावा करै। सुना, मालिक, एक दिन खिचड़ी में मुअल बिस्तुइया मिली। ऊ त संजोग नीक रहा कि खाये कै पहिलैं पंडीजी के नजर पड़ि गया। न देखे होतैन त इस्कूलिया में केतने लड़कन क लास बिछल होतै।’

इसी बीच पत्नी ने अलका के हाथ लोटे में शर्बत और साथ में दो गिलास भेज दिया। मैं अलका से गौरी के लिये प्लास्टिक का गिलास माँगता हूँ। गौरी शर्बत पीने में झिझकता है। मैं उसे गिलास भर कर थमा देता हूँ। सकुचाते हुए वह गिलास पकड़ता है। एक गिलास पीकर उठना चाहता है। ‘शर्बत बहुत है, और लो’ कहते हुए मैं उसे बैठा देता हूँ। गिलास फिर भर देता हूँ। शर्बत खत्म कर वह गिलास गली में डालता है और सलाम ठोंक लौट जाता है।

गौरी नट चला गया है। मैं अकेला चारपाई पर लेटे-लेटे गुन रहा हूँ। कई प्रश्न मुँह बाये खड़े हो जाते हैं। जिस जाति को आज तक यह नहीं मालूम कि हमारे देश का नाम क्या है, देख के प्रधानमंत्री का नाम क्या है, देश के कर्णधारों का चरित्र क्या है ? जिनके लिए काले अक्षर आज भी भैंस बराबर हैं, जिनके बच्चे आज से कुछेक बरस पहले तक भोज की फेंकी गई जूठी पत्तलों को हथियाने-चाटने के लिए कुत्तों से जूझते हुये चोटिल हो जाते थे और आज जिनके लिए स्कूल, अस्पताल, थाना-कचहरी-सबके दरवाजे बन्द हैं, जिन्दगी से जद्दोजेहद करते हुए पेट भरने के लिए कभी गाड़ियों में झाड़ू लगाते हैं, कभी पॉकेटमारी करते हैं तो कभी ‘नटविद्या का करतब’ दिखाकर भीख माँगते हैं, जिनकी जवान बहुएँ-बेटियाँ चंद सिक्कों के लिए ढोलक लिये-लिये स्टेशनों, दफ्तरों, कचहरियों में जा-जाकर नाचती-गाती हैं और इतना उधातम करने पर भी जब पेट की आग नहीं बुझती, तो तन का सौदा करने के लिये मजबूर कर दी जाती हैं, उस नट जाति के लिए संसद से ग्राम-पंचायत तक के किसी जन-प्रतिनिधि ने कभी कुछ सोचा ? कभी कुछ किया मानवाधिकार आयोग, बालश्रम कानून और अनैतिक देह व्यापार अधिनियम बनाकर अपने कर्तव्य की इति

कुछ लोग ऐसे भी :: 40

मान लेने वाली सरकारों और उनके मक्कार मंत्रियों ने ? कभी संसद में इनके बारे में भी सवाल उठाया किसी ने ?

अपने को क्षत्रियों की सन्तान (बेड़ियों के पेट से पैदा) मानने वाली यह नट जाति जो अब गिनती की बची है, किसी दिन कुपोषण के चलते किसी महामारी की चपेट में आकर अस्तित्वहीन हो जायेगी अथवा इस घिनौनी ज़िन्दगी से तंग आकर किसी नक्सली गिरोह में समा जायेगी। भारी-भरकम शोध ग्रन्थ लिखकर पी-एच.डी. और डी. लिट. की उपाधि लेकर विश्वविद्यालयों में मोटी तनख्वाह पाने वाले प्राध्यापक इन्हें इतिहास के भूले-बिसरे पन्नों में तलाशेंगे।



दि. 11 अप्रैल, 2012 – बुद्धवार

आज सुबह कोई काम नहीं है। पाँच-छः बाल्टी पानी भर कर रख दिया। इतना पर्याप्त है पत्नी के नहाने और खाना बनाने के लिए। समय कैसे बिताया जाये, सोचकर ऊपर वाले कमरे की एक आलमारी, जहाँ थोड़ी बहुत किताबें स्थायी रूप से पड़ी रहती हैं, की धूल साफ करता हूँ। वहीं पर अमृता प्रीतम की किताब 'रसीदी टिकट' मिल जाती है। दसियों साल पहले, शायद इससे भी पहले पढ़ी हुई पुस्तक। जगह-जगह अंडरलाइन की हुई पंक्तियाँ। सरसरी निगाह से देख रहा हूँ। पत्नी आवाज़ देती हैं—'कुछ हरी सब्जी ला दीजिये। हाँ, सलाद के लिए खीरा मिल जाय तो ले लीजिएगा।' सब्जी लेने जाता हूँ। वहाँ भीड़ है, दसियों ग्राहक लाइन में। पप्पू जनरल स्टोर—यहाँ भैंस बाँधने के सीकड़ से लेकर ब्यूटी क्रीम तक, हर चीज उपलब्ध है। कोने में भीगे बोरे से ढँकी हरी सब्जियाँ भी हैं।

भीड़ देखकर गली में खड़ा होकर इंतज़ार करता हूँ। दुकानदार की निगाह मेरी तरफ उठती है। वह प्रणाम करके भीतर बुलाकर कुर्सी पर बिठा देता है। मैं जल्दी में हूँ। एक छोटी लौकी और करैला छाँटकर तौलने को पप्पू की तरफ बढ़ा देता हूँ। लौकी का रेट सुनकर ताज्जुब होता है। गाँव में यह तौलकर बिकती है। रेट है बारह रु. प्रति किलो। इलाहाबाद में छः रुपये में उपलब्ध हो जाने वाली 1 1/2 kg. की लौकी के 18 रुपये देने पड़ते हैं। लेकिन खरीदना है, क्योंकि कोई विकल्प नहीं है। सब्जी लेकर आता हूँ, पत्नी बताती हैं—'डॉक्टर आये थे, पूछकर चले गये।' मेरे गाँव में कई झोला छाप डाक्टर हैं। इसके अलवा पी.एच.सी. के दो डाक्टर हैं। गाँव आते-जाते सभी से परिचय हो गया है। 'कौन डाक्टर?' मैं पूछता हूँ।

'उदयप्रताप सिंह, आपके दोस्त। मैंने इन्तज़ार करने को कहा तो रुके नहीं, चले गये, फिर आने को कहकर ! मुझे थोड़ा अफसोस होता है, क्योंकि गाँव आये एक हफ्ता से ज़्यादा हो रहा है। मैं व्यस्तता के चलते उनके यहाँ जा नहीं सका और वे मेरे गाँव आने की खबर सुनकर जब खुद आये तो मुलाक़ात नहीं हुई।

उदयप्रताप जी मेरे सहपाठी रह चुके हैं। पोस्टमास्टर हैं रिटायर्ड। बायोकेमिक व होमियोपैथी के डाक्टर हैं। दवायें खरीदकर लोगों का मुफ्त इलाज़ करते हैं। जाड़ों में मेरी तबियत खराब होने का समाचार सुनकर दवाओं का बक्स लेकर आ गये। परोपकारी ऐसे कि मेरे यहाँ गैस खत्म हो गई थी, बेटे से अपना भरा सिलेण्डर भेज दिया।

शाम 6.30 बजे मैं खुद उनसे मिलने जाता हूँ। देखते ही चारपाई से उठकर नमस्कार कर सिरहाने बिठाते हैं, क्योंकि मित्र और हमउम्र होते हुए भी रिश्ते में भतीजे लगते हैं। लड़के-पोते आकर पाँव छूते हैं। ऐसा शिष्टाचार शहर में ढूँढ़े नहीं मिलेगा।

माथे पर पसीने की बूँदें देखकर मैं पूछ बैठता हूँ—

‘कुछ कर रहे थे क्या ?’

‘हाँ, साढ़े चार बजे से लगा हूँ। चार-पाँच मवेशियों को कमरे से बाहर निकाला, गोरुआर की सफाई की, दरवाजे पर पानी छिड़क कर छरका लेकर पूरा दरवाजा बुहारा, इसके बाद दोनों भैंसों और तीनों गायों को पंप चलाकर धोया। अभी आपके आने के पाँच मिनट पहले चारपाइयों को बाहर निकाला।’ वे सविस्तार बताते हैं। मुझे उनकी चाक-चौबन्द व्यवस्था देख कर एक सुखद अनुभूति होती है और मन में एक ललक उठती है कि काश ! मैं भी ऐसा कुछ कर पाता !

उदय प्रताप सिंह का पक्का मकान, मकान से लगा लम्बा-चौड़ा बरामदा। मकान के उत्तर तरफ हैँडपाइप, जिसमें समरसेबुल पंप, हैँडपाइप के पास ही लैटिन और बाथ-रूम। मकान के पूर्वी तरफ लगभग 6-7 बिस्वे में सहन और सहन के भी पूरब मवेशियों के लिए दोतल्ला बैला, जिसकी निचली मंजिल में पशु बाँधे जाते हैं, ऊपर कोठे पर भूसा-काँटा साल भर के लिए इकट्ठे भर दिया जाता है। बैला की दक्षिण तरफ कलमी आम के तीन-चार पेड़ लगे हैं और गर्मी की सब्जियाँ—चौराई, लौकी, नेनुआ, तराई आदि की खेती भी है। मैं उन्हें साथ लेकर सब्जियों की क्यारियाँ देखने चल देता हूँ। इतनी भीषण गर्मी में, जबकि पारा 44 डिग्री पर पहुँच रहा है, सब्जियों की ‘हरियरी’ देखकर ताज़्जुब होता है। क्यारियों की मेड़ पर पपीते के भी 5 पेड़ हैं। मेरे प्रश्न- इनकी सिंचाई कैसे होती है ? के उत्तर में वे बताते हैं—अभी सन्तोष (बेटा) चन्दौली से लौटकर प्लास्टिक का पाइप फैलाकर पम्प चलाकर सींचेंगे। ऐसा रोज ही करना पड़ता है। बिजली नहीं रहती तो हैँडपाइप से बाल्टियाँ भर कर सींचते हैं।

उदय प्रताप सिंह के लम्बे-चौड़े द्वार के ठीक पूरब उनका चार बीघे का चक है। चक की उत्तर तरफ खड़जा-बिछी चकरोड है। चक के पूर्वोत्तर कोने में दो पेड़ लगे हैं जो अभी दस फीट से ज्यगदा लम्बे नहीं हैं। उनके चक के किनारे पेड़ों को देखकर मैं पूछ बैठता हूँ—

‘किस चीज़ के पेड़ हैं ?’

‘दोनों बरगद के हैं ?’ छोटा-सा उत्तर देते हैं।

‘खेत के किनारे बरगद और वह भी एक नहीं, दो-दो, धाह नहीं मारेंगे ? जहाँ तक मेरा अनुमान है, 5-6 बिस्वे की फसल बरबाद होगी।’ मैं आशंका प्रकट करता हूँ।

‘हाँ, बरबाद तो होगी, लेकिन परोपकार कम नहीं होगा। ये दोनों बरगद जब जवान होंगे, इनकी हजारों शाखाओं पर लाखों-लाख चिड़ियाँ घोंसलें बनायेंगी, सुख से अंडे देंगी।

राहगीरों और मवेशियों को ठंडी छाया मिलेगी। नाग पंचमी पर बच्चे-बच्चियाँ झूला झूलेंगी कजली गायेंगी। देख रहे हैं पूरब तरफ-हजारों बीघे में पसरा यह लम्बा चौड़ा सीवान—है कोई पेड़ और रूख ? सामने वाले लखराँव (पेड़ों की पंक्ति) का आज एक भी पेड़ नहीं बचा है, सब उकठ गये। किसी ने उस जगह पर एक भी पेड़ नहीं लगाया। मुझे बरबस रवीन्द्रनाथ टैगोर की वह कविता याद हो आई, जो उन्होंने अपनी हंगरी की यात्रा के समय वहाँ की बालातोन झील के किनारे एक पेड़ लगाने के बाद लिखी थी—

‘मैं जब इस धरती पर नहीं रहूँगा/तब भी मेरा यह वृक्ष/आपके बसन्त को नव पल्लव देगा/ और अपने रास्ते जाते सैलानियों से कहेगा/ कि एक कवि ने इस धरती से प्यार किया था।.....’

लेकिन मैं यहाँ देख रहा हूँ कि उदयप्रताप भाई की सम्बेदना, उनकी करुणा की परिव्याप्ति में मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी हैं। या कि सम्पूर्ण जीव-सृष्टि ही उनकी परहित-चिन्ता की परिधि में सिमट गई है।

वे कविता नहीं लिखते, लेकिन उनके बीतर रवीन्द्रनाथ से छोटा कवि-हृदय नहीं है, शायद कुछ बड़ा ही।

मैं ऐसा मानता हूँ कि मनुष्य की पीड़ा उसकी यातना और उस यातना को चुपचाप सह जाने की उसकी बेबसी को देखकर सम्बेदन-सहानुभूति से भर उठना ही कवि होना है और उस पीड़ा, उस बेबसी को कविता में रूपान्तरित कर देना तो एक तरह से प्रति सृष्टि है, जो पाठक को आन्दोलित करने की क्षमता रखती है। कवि को इसीलिए स्वयंभू मनीषी कहा गया है।

मैं उनके साथ दोनों बरगद, जो आज भी ईंटों के ओटे में सुरक्षित, हवा के झोंके के साथ झूम रहे हैं, आपस में बतिया रहे हैं, देखकर वापस लौट रहा हूँ। अकस्मात् एक प्रश्न कौंध उठता है—पूछ देता हूँ—

‘दो पौधे क्यों लगाया आपने, एक या तीन क्यों नहीं ?

वे बताते हैं—‘मैंने विज्ञान की पुस्तक में पढ़ा था कि पेड़ पौधे, वनस्पतियाँ जड़ नहीं है। उनमें भी चेतना होती है, जीवन होता है। हमारे देश के महान वैज्ञानिक सर जगदीश चंद-बोस ने तो इसे सिद्ध भी किया है। अखबार में भी कभी पढ़ा था कि संगीत की धुनों के प्रयोग से सूखते हुए पौधे हरिया उठे और उनमें फूल और पत्ते आ गये।

‘मैंने दो पौधे एक साथ इसलिए रोपा कि मनुष्यों की तरह पौधे भी परिवार में रहना पसंद करते हैं। एक की ज़िदगी कोई ज़िदगी नहीं होती, दो रहेंगे तो अपनी मूक भाषा में कुछ बोलेंगे, बात करेंगे। इनके दिन सुखपूर्वक बीतेंगे।’ मैं उनका यह तर्कसंगत उत्तर सुनकर चकित होता हूँ।

मैं मन ही मन इस संवेदनशील मित्र को प्रणाम करता हूँ। मेरे मन में यह बात अभी तक नहीं आ पाई थी।

चलते-चलते वे अपनी बात जारी रखते हैं—‘देखिये, आज किसी के भी दरवाजे पर है कोई वृक्ष ? आज से 10-15 वर्ष पहले तक हर एक के दरवाजे पर नीम का पेड़ हुआ करता था। नीम एक ऐसा औषधीय वृक्ष है, जिसकी जड़ से लेकर फुनगी तक—कोई चीज व्यर्थ नहीं है। एक दिन पतंजलि योग विश्वविद्यालय के आचार्य बालकृष्ण जी इसके गुणों पर प्रकाश डाल रहे थे, इतिफाक़ से मैं उस दिन बिजली रहने के कारण टी.वी. के आस्था चैनल पर सुन रहा था। उन्होंने यह भी बताया कि अमेरिका वाले इस नायाब वृक्ष को ‘पेटेन्ट’ करना चाहते थे, लेकिन बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के प्रो. रामहर्ष सिंह ने अमेरिका में सम्पन्न एक मीटिंग में इसका पुरजोर विरोध किया, तब कहीं अमेरिका चुप हुआ।

‘हमारी संस्कृति वन्य संस्कृति, वनों की संस्कृति रही है। हमारे ऋषियों ने वनों में आश्रम बनाये, अध्ययन-अध्यापन किया, तपस्या की। यहीं उन्होंने वेदों, पुराणों की रचना की, प्रकृति की गोद में बैठकर। आज हमारे वन उजड़ रहे हैं, हमारी पवित्र नदियों पर बाँध बनाये जा रहे हैं। उनमें कल कारखानों का कचड़ा बहाया जा रहा है। जूते की फैक्ट्रियों में चमड़ा साफ कर गंदा खून और कचड़ा बिना रोक-टोक बहाया जा रहा है। और यही कारण है कि तरह-तरह की बीमारियाँ फैल रही हैं।’

मेरी आँखों के सामने 3-4 साल पहले का गंगा के लाल पानी का दृश्य साकार हो उठा। मकर संक्रान्ति पर बेटे के साथ गंगा-स्नान करने गया था, दारागंज दशाश्वमेध घाट पर। रक्त मिला हुआ जल, हल्के लाल रंग का। मन खिन्न हो उठा, स्नान करने का आस्था-भाव ही मर गया। किसी तरह मुँह-नाक बंद कर दो बुड़की लगा बाहर आ गया। मुझे उत्तरकाशी की गंगा और गंगा के जल की खुशबू की याद हो आयी। सन् 1998 में आडिट करने गया था। एक पखवाड़ा रुकना था। जल में औषधीय वनस्पतियों की सुगन्ध, प्रातः स्नान करके, आचमन करके मन-प्राण तृप्त हो जाते थे। यही गंगाजल था, जिसे लंदन की प्रयोगशाला में बरसों रखे जाने पर भी कोई विकृति नहीं आयी, जबकि टेम्स नदी के जल में कीड़े पड़ गये थे। भारत सरकार के पूर्व रेल मंत्री पं. कमलापति त्रिपाठी ने आजीवन गंगा-जल छोड़ कोई दूसरा जल नहीं पिया। जब तक दिल्ली में रहे, उनके लिए काशी से ताम्र पात्रों में भरकर गंगा जल काशी-विश्वनाथ एक्सप्रेस से नित्य जाता था। इसी पावन जल के सहारे वे बरसों कैंसर जैसे असाध्य रोग को ठेंगा दिखाते रहे।

हम लोग बात करते हुए आकर बैठे ही थे कि उदय प्रताप सिंह का छोटा बेटा उनके मकान से लगभग सटी हुई मज़ार पर दीपक जला रहा था। तब तक उनका बड़ा पोता जग में भरकर बेल का शर्बत ले आया। यह पक्की मज़ार तो मैंने पहले भी कई बार देखी थी। किन्तु आज जब उनके बेटे को दीपक जलाते देखा तो उसके विषय में जानने की उत्सुकता हो आयी। पूछ बैठा—

‘यह किसकी मज़ार है ?’

‘आप तो जानते हैं कि मेरे मकान के दक्षिण आठ दस घर मुसलमान धोबियों के हैं, ये सब मेरी ही जमीन में बसे हुए हैं, शताब्दियों पहले से। मेरा यह मकान तो अभी कुछेक साल पहले बना। बँटवारे के बाद भी हम लोग बीच गाँव वाले पुराने मकान में ही रहते थे, यहाँ पर सिर्फ मवेशी रहते थे। जब चाचा मिलिटरी के मेडिकल कोर से रिटायर हुये, उन्होंने अपने लिए एक कच्चा कमरा बनवाया। यहीं अपनी छोटी-सी डिस्पेंसरी खोला उन्होंने, जब तक जीवित रहे, किसी से दवा का एक पैसा नहीं लिया, मुफ्त इलाज करते थे। थे तो कम्पाउन्डर लेकिन दवाओं की जितनी जानकारी उनको थी, आज पी.एच.सी. के डाक्टरों को भी नहीं है। चाचा बताते थे कि यह किसी पीर की मज़ार है और धोबी लोग ईद-बकरीद पर चादर चढ़ाते हैं, मैं भी उन्हें थोड़ा बहुत पैसा दे देता हूँ। मज़ार कच्ची थी, जब मेरा मकान बना, उसी समय मैंने इसे पक्की करा दिया। उसी समय से शाम को एक दिया जला दिया जाता है, नित्य शाम को, उस पीर की पवित्र आत्मा की तुष्टि के लिए और इसी बहाने, शायद अपने परिवार के कुशल-क्षेम के लिए भी। आपको याद है, पार साल जाड़ों में आप ने एक दिन रामकृष्ण परमहंस जी के बारे में बताया था कि उन्होंने ईसाई धर्म गुरु से दीक्षित होकर ईसा मसीह से बात की थी, ईसा ने उन्हें सीने से लगाकर अपने में समा लिया था। वे अपने कमरे में ईसा का चित्र रखते थे और प्रतिदिन उनके सम्मुख धूप जलाया करते थे। भारतीय ईसाई रामकृष्ण में ईसा का प्रत्यक्ष प्रकाश देखकर श्रद्धा से नत हो जाते थे। वे थोड़े दिनों तक इस्लाम धर्म के अनुयायी बनकर पाँच वक्रत नमाज़ अदा किया करते थे और उन्हें एक दिन पैगम्बर का दर्शन हुआ, जो उनके पास आकर उन्हीं में विलीन हो गये।

‘आपने यह भी बताया था कि श्री रामकृष्ण जब दक्षिणेश्वर के बरामदे में टहलते थे तो भक्तों को उनके स्वरूप में अपने-अपने इष्ट का दर्शन होता था, किसी को दुर्गा का, किसी को शंकर का तो किसी को ईसा का।’

मुझे स्वामी विवेकानन्द का कथन याद आता है—‘अत्यन्त महत्वपूर्ण और आश्चर्यजनक सत्य मैंने अपने गुरुदेव श्री रामकृष्ण जी से सीखा है, वह यह है कि संसार में जितने धर्म हैं, वे परस्पर विरोधी नहीं हैं, वे एक ही चिरन्तन, शाश्वत धर्म के भिन्न-भिन्न भाव-मात्र हैं। यही एक सनातन धर्म चिरकाल से समस्त विश्व का आधार-स्वरूप रहा है और चिरकाल तक रहेगा। अतएव हमें सभी धर्मों को मान देना चाहिए और जहाँ तक हो सके, उनके तत्त्वों में अपना विश्वास रखना चाहिए।’

लेकिन कट्टरपंथियों ने धर्म के इस मूल-तत्त्व को जानते हुए भी आचरण में उतारा कहाँ ? आज हमारे देश में कहीं हिन्दू मुसलमान लड़ रहे हैं तो कहीं हिन्दू और ईसाई लड़ जाते हैं। अरब में तो शिया-सुन्नी आपस में लड़ मर जाते हैं और इन कट्टरपंथियों को कुर्सी की राजनीति करने वाले टुच्चे राजनेता एक ओर आपस में लड़ते हैं, तो दूसरी ओर शान्ति-

सद्भाव के जुलूस की अगुआई भी करते हैं। हमारे देश में आज भी हिन्दू-मुस्लिम दोनों कौमों में ऐसे धर्म के मर्म को आत्मसात कर चुके साधु पुरुषों की कमी नहीं है, जिन्हें यदि समस्त धार्मिक विवादों को सुलझाने का कार्य सौंप दिया जाये तो मुझे पूरा विश्वास है कि भविष्य में कोई जातीय या धार्मिक दंगा फसाद नहीं होगा। बाबरी मस्जिद भी बन जायेगी और श्रीराम का मंदिर भी। इसी तरह काशी और मथुरा के मसले भी हल हो जायेंगे।

उदय प्रताप जी अभी बोल ही रहे थे कि हुल्लड़ गुरु टपक पड़े। आते ही गाना शुरू कर दिया—‘भेजे मनभावन के’ ‘अभी नहीं’ उदय प्रताप जी ने रोककर, कहा—‘पहले पानी और चाय हो जाय तबा’

पाँच मिनट भी नहीं बीता कि उनका बड़ा पोता प्रत्यूष ट्रे में चाय-नमकीन के साथ आँवले के मुम्बे लेकर हाजिर हो गया। पानी-चाय पी चुकने के बाद हुल्लड़ गुरु ने पुनः राग अलापना शुरू किया—‘आ-आ-आ भेजे मनभावन के ऊधो के आवन की सुधि ब्रज गावन में पावन जबै लगी/ कहै रतनाकर गुवालिनि की झौरि-झौरि दौरि-दौरि नन्दपौरि आवन तबै लगी/उझकि-उझकि पद कंजनि के पंजनि पै पेखि-पेखि पाती, छाती छोहनि छबै लगी/ हमकों लिख्यौ है कहा, हमकों लिख्यौ है कहा, हमकों लिख्यौ है कहा, कहन सबै लगी।’

हुल्लड़ गुरु आज अत्यधिक प्रसन्न दिखाई दे रहे थे। यह कवित्त सुनाने के बाद बोले— देखिये साधू जी, प्रेम में दीवानगी हो तो ऐसी हो। ऊधो कृष्ण भगवान की चिट्ठी लेकर आये हैं और उस चिट्ठी को देने और उसको छूने के लिए झुंड की झुंड गोपियाँ नन्द बाबा के द्वार पर पागल की तरह दौड़ी जा रही हैं। एतनै नहीं (भोजपुरी में) सभी, उस चिट्ठी पर दावा ठोक रही हैं कि हमें ही लिखा है। अगर कृष्ण जी खुद आये होते, तब तो वे पागल गोपियाँ आपस में झोंटा-झोटव्वल कर लेती (एक दूसरे का बाल नोंच-डालती लड़ मरती)।

गोपियों में उस चिट्ठी को छूने की होड़ लग गई। एक-दूसरे को धकेलते हुए आगे आना चाहती हैं। ऊधो यह रेला देखकर पगला गये, उनका होश-हवास गुम हो गया। निर्गुन की गठरी जो बाँधकर ले गये थे, खोलै क हिम्मतै नाँय पड़ी। (बीज में भोजपुरी भी बोल देते हैं)

अब सुनिये मोहन-मोहिनी में बिन्दुजी महाराज क्या लिखते हैं,—

‘उलझकर वस्त्र में काँटे/ लगे ऊधो को समझाने।

तुम्हारा ज्ञान-परदा फाड़ देंगे प्रेम-दीवाने।’

देखा, ईहाँ त ऊधो के पहिलही चेतावनी मिल गइल रहै, रस्तै में।

सूरदास जी का लिखत हउवै—

*‘हमारे हरि हरिल- की लकरी।
मन क्रम बचन नंद-नन्दन उर, यह दृढ़ करि पकरी/
जागत-सोवत स्वप्न दिवस-निसि कान्ह-कान्ह जकरी।’*

मुझे संबोधित करते हैं—साधू, तू हरिल ना देखले होबा, सहर में कहाँ देखाई। एक बेर रणधीर सिंह हरिल मार के ले आयल रहलै। मुअले के बादौ ओकरे पंजा में लकड़ी क टुकड़ा फँसल रहै। एके कहै लँ प्रेम। अउर पपीहरा क प्रेम। जब पीही त सेवाती के पानी, नाही त पियासल रह जाई। बहेलिया तीर मरलस, पपीहरा गिरल गंगा में, बाकित तुरन्तै ठोर उप्पर कई लेहलस, एक्को बूँद गंगाजल मुँह में नाही जाये देहलस। जान दे देहलस बाकित आपन टेक नाही छोड़लस। ई असली प्रेम हौ।’

मैं टोक देता हूँ—‘लेकिन हुल्लड़ गुरू। स्वाती का पानी पपीहा के प्रेम को कहाँ जान पाता है ? वह तो बेजान है। प्रेम तो दो व्यक्तियों के बीच होता है।’

‘मीरा भी त कृष्णजी के मूर्तिऐ से प्रेम करत रहलीं। लोग त ईहो देखल कि ऊ मूर्ती से बतिऐबो करै। मूर्ती भी त बेजान हौ। एकर मतलब ई त नाही हौ कि मीरा क प्रेम कच्चा रहल। ऊ त एतना दीवानी रहलीं कि कृष्ण जी कै नाम लेके जहरौ पी गइली। एक बात अउर सुन ला, जब ऊपरवाले से लव लग जाले, त एकर तनिको ध्यान नाही रहत कि ‘ऊ’ हमके दरसन देही कि ना देही। चलत-फिरत, सोवत-जागत ओही में प्रान अटकल रहत हौ। एक सैर (शेर) सुना—‘फानूस को परवानों ने देखा तो ये बोले। क्यों हमको जलाते हो कि जलने नहीं देते।’ सीसा के झाड़-फानूस के भित्तर दीया जल रहल बा, फतिगन के प्रेम देखा, ऊ सब वोहि सीसा पर झपट रहल बाटै, दिया से भेंट नाही होत बाया। काहे कि उनकर प्रेम त समा से हौ, दीया से हौ। हरि के सिकाइत करत हउवै फानूस से कि हमके अपने प्रेमी के संगे जरै काहे नाही देत हउवऽ ? एके कहैलँ असली प्रेमी। प्रेम में जर-मरै बदे होइ लगल बा।’

देखा कबीरदास का कहले लउवँऽ—

*यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे, भुँई धरै, तब पइठे घर माहि।।*

आज के लवंडन (लड़कों) के देखा, मोबाइल पर प्रेम होय जाय हौ। गर्लफ्रेंड से बात कय लेत हउवै कि फलाँ होटल में आय जा। सारा पइसा क खेला। पइसा फेंकलै, आग टंडी भइल, दूनो अपने-अपने घरे गइलै। इ ससुरे, ग्रैजुएट होय जात हैं, इनके ईहो नाही मालूम कि भ्रमर गीत क मतलब का हौ ? नकल कइके, गाइड से परिच्छा दीहैं त ज्ञान कहाँ से होई, अ नकलो करै क पइसा देलै।’

‘बड़ा आनन्द आया हुल्लड़ गुरू ! अब चलिये, नौ बज रहे हैं, भोजन का वक्त हो गया है। देखिये धोबियान में सोता पड़ गया है’—कहते हुए मैं उन्हें साथ लेकर चल देता

कुछ लोग ऐसे भी :: 48

हूँ। उदय प्रताप जी अपनी टार्च थमा देते हैं क्योंकि रात अंधेरी है, रास्ते में कई जगह नाबदान हैं।

हम-दोनों साथ चल रहे हैं। मैं मन ही मन इस फक्कड़ इन्टर फेल व्यक्ति की स्मरण शक्ति की प्रशंसा करता हूँ और एक मजे हुए अनुभवी अध्यापक की तरह कविताओं की व्याख्या सुनकर हैरान हूँ। काश, उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने का सुयोग मिला होता !



दि. 12 अप्रैल, 2012 – बृहस्पतिवार

सोमवार को मेरे गेहूँ की लवन प्रारम्भ नहीं हो पाई क्योंकि उस दिन दोनों भाई सरसों की मड़ाई और ओसवान में फँसे रहे। आज गुरुवार का शुभ दिन है, आज से लवन शुरू करेंगे दोनों—ऐसा सोच मैं तड़के ही अपने खेत की तरफ चल देता हूँ। अभी धुँधलका है, सूरज के उगने में देर है। शिवालय के पीछे माइनर है, जो बस्ती और सिवान की विभाजक-रेखा की तरह, पश्चिम से प्रारम्भ होकर पूर्वी छोर पर एक बड़े जलाशय (दुगहर) में मिल जाती है, माइनर की पुलिया पर विरम कर अकनने लगता हूँ। चारों ओर चर्-अ-चर्-अ-अ की कर्णप्रिय ध्वनि। दँरातियों और बाँकियों से गेहूँ के पके पौधों के कटने की, जैसे किसी पर्वत की उपत्यका पर जंगली भैंसों का झुंड एक साथ घास चरने में व्यस्त हो।

मैं अँधेरे-मुँह अपने चक पर पहुँच जाता हूँ। हैरान हूँ यह देखकर कि चिटू, मिंटू और उनकी माँ ने अब तक लगभग 5-6 बिस्वे की फसल काट डाली है। पूछता हूँ—‘तुम लोग कितने बजे आये ?’ चिंटू बताता है—नटाने वाला मुर्गा हम लोगों के आने के करीब आधे घंटे बाद बोला। मेरा अंदाज है कि तीन बजा रहा होगा। बड़का भिनसार होता है, तभी मुर्गा बोलता है। हम लोग उससे भी पहले आ गये।’

‘अपने मोबाइल में टाइम नहीं देखा ?’ मैं पूछता हूँ।

‘नहीं बड़का बाबू, रात में लाइन नहीं थी, चारज नहीं हुआ।’ बताता है चिटू।

आज अमावस्या है चैत की। सारी रात चन्द्रमा नहीं दिखा होगा, किन्तु अँधेरी रात होने के बावजूद भी कट चुके खेत के हिस्से में एक भी पौधे का डंठल छूटा नहीं है। सधे हुये हाथों में बाकियाँ-दँरातियाँ हों तो रात का अँधेरा हो या भिनसार का झुटपुटा, कहीं कुछ भी कटने से नहीं बच पाता। सरसों के डंठल अलबत्ता थोड़ा अवरोध डालते हैं, किन्तु वे भी धराशायी हैं। धीरे धीरे धुँधलका छँट जाता है। पूर्वी क्षितिज पहले पीताभ, तदनन्तर अरुणाम होने लगता है। किसी गर्भवती माँ के चेहरे की तरह। शीघ्र ही शिशु-सूर्य का प्रसव होने वाला है। मैं अपलक पूर्व की ओर निहारने लगता हूँ। मीलों-मील फैले गेहूँ के मटमैले खेतों के पूर्वी सीमान्त पर ताम्बई गोलक प्रगट हो रहा है। चतुर्दिक एक अद्भुत नीरवता-सी छाई हुई है। देखते देखते शहीद वाली बारी में पक्षियों का कलरव गूँजने लगता है, मानो वे पुत्र-जन्म पर बधाई-गीत गा रहे हैं। सूर्य-प्रसव के बाद पूर्वा के देह की कान्ति अद्भुत लग रही है, मुख-मंडल पर स्वर्णिम आभा फैल गई है। सारा सिवान सोने के पानी में नहा उठा है।

पखेरू नीड़ों में बच्चों को छोड़ चुग्गा की तलाश में झुंड-बाँधे पूरब की ओर उड़ते चले जा रहे हैं। बारी के पास वाली बावड़ी से बगुलों का एक समूह उड़ता है और देखते-देखते एक सीधी क्षैतिज रेखा में बदल जाता है, जैसे किसी अनुदेशक ने उन्हें रेखाबद्ध होने का 'काशन' दिया हो। सूर्य की सुनहरी किरणों उनके श्वेत पंखों को अपने रंग में रंग देती है। धीरे-धीरे वह वक्र-पंक्ति अर्द्ध चन्द्राकार होकर एक बिना मूँठ की सुनहरी तलवार का आकार ग्रहण कर लेती है। पल-पल परिवर्तित प्रकृति का यह अनोखा मंजर मन-प्राणों को बाँधे ले रहा है। मैं अपलक निहार रहा हूँ यह नयनाभिराम दृश्य, दृष्टि दृश्यमय हो गई है। वामपंथी प्रगतिशीलों को यह सूरज भी गरीबों का खून चूसने वाला फासिस्ट ही दिखाई देता, जैसे निराला ने गुलाब को कैपिटलिस्ट के रूप में देखा था।

'बड़का बाबू ! घर जाइये, कुछ चाय-नास्ता करके आइये। आप तड़के आ गये। बड़की माई जोह रही होंगी'—अचानक चिन्दू की आवाज सुनकर मेरा ध्यान बँट जाता है। चाय का नाम सुनते ही चाय की तलब लग जाती है।

घर लौटते समय ध्यान आता है कि इन दोनों बच्चों ने भी तो अभी तक कुछ नहीं खाया है, सुबह तीन बजे से ही निरन्तर दँरातियाँ चला रहे हैं, अथक, अविराम।

मैं पूछ बैठता हूँ—'तुम लोगों के लिए क्या लाऊँ'—

'कुछ नहीं ! अभी बहिन खड़का (खाना) लेकर आयेगी। आप आते समय गुड़ और छोटी बाल्टी में पानी लेते आइयेगा।' चिन्दू ने कहा।

घर लौटकर अभी नाश्ता कर ही रहा था कि किसी मंगन (भिखारी) की आवाज कानों में पड़ी। मैं उठकर देखने जा रहा था कि अलका आ गई। उसने बताया—'काशी मुसहर है।' काशी का नाम सुनते ही मैं तुरत पक्का के चैनल गेट पर आ गया। देखा—काशी जिसकी दोनों आँखों की रोशनी गायब है और साथ में एक 10 साल का लड़का है जो शायद उसका नाती या पोता है, दीवाल से लाठी टिकाकर बैठा है।

अंधे-बूढ़े काशी को देखते ही पचास साल पहले का कासी, यादों में दस्तक देने लगता है।

एक हष्ट-पुष्ट गठी देह का स्वामी गहरा साँवला रंग, चौड़ा सीना, ऐंठी हुई मुश्कें, क्रद लगभग सवा पाँच फुट।

मैं बी.ए. में था तब। दशहरे की छुट्टियों में गाँव गया था। बैला (मवेशियों के बाँधे जाने वाला बड़ा कच्चा हाल) की उत्तर तरफ एक कच्चा कमरा बना हुआ था, जिसे पहली बार देख रहा था। एक साँवली औरत कमरे के बाहर बर्तन माँज रही थी। उत्सुकता हुई, छोटे भाई से पूछा। उसने बताया 'बहबलपुर गाँव के काशी मुसहर ने इस साल समहुत (असाढ़ से हल चलाने का दायित्व) किया है। मँगरू पार साल गुजर गये। एक हलवाला उनकी जगह रखना ही था। काशी किसी के तिलक में पत्तल पहुँचाने आया था। दरवाज़े पर आकर गिड़गिड़ाने लगा। भैया ने हामी भर दी और उसके लिए एक कमरा भी बनवा दिया। काशी के रहने से इतना फायदा है कि वह हलवाही और चरवाही (बैलों को खिलाना-पिलाना) दोनों

कर लेता है। उसकी औरत पत्तल और दोने बनाती है। काशी खाली समय में महुआ के पत्ते तोड़कर रख देता है।’

दसियों साल काशी मेरे दरवाजे रहा। उसके रहते पाँचों बैल और दोनों भैंसों इतनी तन्दुरुस्त हो गई थीं कि उनके देह से मक्खियाँ तक बिछल जाती थीं। सुबह अरहर के बड़े झाड़ू से बुहार कर दरवाजा साफ कर देता। कहीं एक तृण भी न छूटता। फागुन में केसारी का इतना बड़ा बोझ लाता कि पूरे मवेशियों के लिए पर्याप्त हरियरी (हराचारा) हो जाती। इसी तरह भादों कुवार में चरी काट लाता। उसका एक बोझा दूसरों के दो के बराबर होता।

वही पुरुषार्थी और बलिष्ठ काया का धनी काशी आज अंधा सूरदास बनकर भीख माँग रहा था। मेरी आवाज सुनते ही काशी मुझे पहचान जाता है और ‘सलाम मालिक’ कहकर अभिवादन करता है। उसे आज तक याद है कि मैं इलाहाबाद रहता हूँ।

मुसहर जाति का मुख्य पेशा था पत्तल-दोनियाँ बनाकर शादी-विवाह, मरनी, तिलक आदि में घर-घर बँहगी पर पहुँचाना और शादियों में वर-वधू की पालकी ढोना। आज बड़ी कम्पनियाँ प्लास्टिक के पत्तल-दोने और गिलास बना रही हैं, कोई पत्तों के बने पत्तल खरीदता नहीं। कुटीर उद्योग आज समाप्त हो गये हैं। मुसहरों से पत्तल दोने बनाने का काम छिन गया और कुम्हारों से मिट्टी के बर्तन बनाने का। धरकार जाति के लोग बांस की खाँची, डलिया, मौनी बनाते थे। इस प्लास्टिक-युग में ये सभी जातियाँ अपने धंधों से विरत कर दी गई। पक्के मकानों के आगे अब कोई कच्चा मकान नहीं बनवाता। इसका कुफल यह हुआ कि पटरी नरिया बनाने वाले तो बेकार हो ही गये, उसको छाने वाले कुशल कारीगर भी बेकार हो गये। गाँधी के सपनों के गाँवों से कुटीर उद्योगों को छीनकर बड़े उद्योगपतियों को थमा दिया गया। एक ईस्ट इंडिया कंपनी आयी यहाँ तिजारत करने और देखते-देखते इस (अंग्रेजी) कम्पनी बहादुर के हम गुलाम हो गये और लगभग 350 सालों तक अंग्रेज हमारे जन-गण-मन अधिनायक बने रहे। लेकिन उनके शासन में भी हमारे कुटीर उद्योग इतने दुर्दशाग्रस्त नहीं हुए थे, जितने आज। आज हमारे देश को लगभग 500 बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ लूट रही हैं। पत्तल-पुरवा से लेकर हवाई जहाज तक बना रही हैं और सारा फायदा विदेशियों की झोली में जा रहा है।

काशी आगे जो बताता है, उसका निचोड़ यह है कि मुसहर जाति को घुमन्तू बताकर बहबलपुर के बाबुओं ने उन्हें उनकी जमीन से बेदखल करके उनकी झोपड़ियाँ उजाड़ कर खेत बना लिया। वे बेसहारा, खानाबदोश बनकर कभी यहाँ, कभी वहाँ माँग-खा रहे हैं। पत्तल-दोना का धंधा भी खत्म हो गया। डोली-पालकी की जगह, कारों ने ले ली। ट्रैक्टर, श्रेशर आ जाने से हलवाहे और चरवाहे बेकार हो गये। उनकी आजीविका के सारे साधन छीन लिये गये। इनका कोई भविष्य ही नहीं बचा है। हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था को मुँह चिढ़ाते इसके शिखर पर अम्बानी, मित्तल, टाटा हैं, जो अपनी सनक पूरी करने में अरबों-खरबों, फूँक देने में संकोच नहीं कर रहे हैं, तो दूसरी तरफ इस व्यवस्था के पैरों से कुचले

जा रहे गौरी नट, खरपत चमार और काशी मुसहर हैं, जिनके सिर पर छत तक नहीं है, जो दो रोटी के जुगाड़ में दर-बदर हो दर-दर भटक रहे हैं।

कल नया ज्ञानोदय का मीडिया विशेषाङ्क पढ़ रहा था, जिसमें कैलाश बाजपेयी का 'रूपर्ट का काला जादू' शीर्षक से एक लेख छपा था। लेख में अमेरिकी पत्रिका 'एडबस्टर्स' (Adbusters) के हवाले से बताया गया था कि मुकेश अम्बानी के नये आवास (पत्रिका ने आवास का चित्र छापा था) की ऊँचाई एक सौ तिहत्तर मीटर है, जिसमें 27 तल हैं। इसमें छः तल मुकेश की 168 कारों के पार्क करने के लिए हैं और तीन तल हेलीकाप्टर उतारने के लिए। एक तल मनोरंजन के लिए है, जिसमें 65 मेहमानों के बैठने की जगह है। तीन तल ऐसे हैं जहाँ छत-वाटिकायें हैं। दो तल मेहमानों के लिए हैं। इस महल में 600 कर्मचारी काम करते हैं। इस महल का नाम 'एंटीलिया' है जो एटलांटिक सागर में कभी एक मिथकीय द्वीप था। पत्रिका ने यह भी लिखा था कि मुंबई जैसे महानगर में जहाँ लगभग 90 प्रतिशत लोगों की औसत आय 50000 रुपये सालाना से अधिक नहीं है, मुकेश वहाँ ऐसा महल बनाकर कहना क्या चाहता है ?

गाँधी जी ने आज से 100 साल पहले 'हिन्द स्वराज' में लिखा था कि 'जब तक वो आखिरी आदमी जिसके लिए देश की आजादी की लड़ाई लड़ी गई, जब तक अपनी जरूरत के अनुसार पूरा प्राप्त नहीं करता, तब तक हम खाने-पीने वाले सब लोग चोरी कर रहे हैं। हम उनके संसाधनों की चोरी करके अपना बना रहे हैं और अपने धंधे बाहर ले जा रहे हैं।' आज हमारे देश के टुच्चे, बड़बोले, बेईमान और भ्रष्टाचारी नेताओं में है किसी नेता में इतनी दूरदृष्टि, जो गाँधी जी की तरह सोच सके ? हाँ, जहाँ तक कथनी का सवाल है, ये हरामखोर अपने भाषणों में आम जनता की ऐसी पैरोकारी करेंगे, इतने जन-हित-चिन्ता-कातर बन जायेंगे, जैसे सारे जहाँ का दर्द इन्हीं के दिलों में निहाँ हो। आज इनके छद्म, इनके भीतर बैठे 'कालनेमि' का असली चेहरा बेनकाब हो चुका है, आवश्यकता है किसी चन्द्रशेखर आजाद या भगतसिंह जैसे हनुमान की।

मैं काशी और उसके नाती को भरपेट खाना खिलाकर विदा करना चाहता हूँ लेकिन इतनी सुबह खाना बना भी नहीं है और मुझे खेत पर भी जाना है तुरन्त। मैं उन दोनों के खाने भर चावल टिन से निकाल कर अलका के हाथ भेज कर नाश्ता करता हूँ और एक छोटी बाल्टी में पानी और गमछा में गुड़ लेकर खेत पर पहुँच जाता हूँ।

अभी आठ भी नहीं बजा है, लेकिन सूरज आग के गोले में तब्दील हो गया है, मैं गमछा में बँधा गुड़ चिन्टू को सौंप कर, गमछे को सिर पर बाँध खेत की मेड़ पर बैठ जाता हूँ। आधा घंटा नहीं बीता कि घाम ललकारने लगा। हवा भी उसके सामने बेबस होकर थम गई। चिरई-चुरुम्मन भी ताप न सह सकने के कारण शहीदवाली बारी की छाँह में चले गये। कुछ ढीठ लालची कौवे, जो अभी भी कटे खेतों में दाना बिन रहे थे, धूप के तिरछे तेवर देख बारी की ओर उन्मुख हो गये। मैं यह महसूस करता हूँ कि काम में व्यस्त आदमी को

धूप या शीत के बारे में सोचने का मौका ही नहीं लगता। दोनों किशोर (चिन्टू-मिन्टू) नंगे सिर दँरातियाँ चला रहे हैं, उन्हें अर्जुन की तरह चिड़िया की आँख यानी खेत की सीमा जहाँ पहुँच कर काम बन्द करना है और जो अब सिर्फ दो मीटर दूर है, दिखाई दे रही है।

मैं अपने को घाम की प्रखरता झेलने में असमर्त पा रहा हूँ और अपने एक दूसरे खेत के पूर्वी छोर पर स्थित पेड़ों की छाँह में जाना चाहता हूँ। तब तक मिन्टू बोल उठता है— 'बड़का बाबू, आप घर जाकर नहाइये, खाइये। हम लोग भी जल्दिए बोझा बाँध कर काम बन्द कर देंगे। अब आप शाम को जूड़ हो जाने पर आइयेगा।'

इन दोनों भाइयों को, जिनकी उम्र अभी स्कूल जाने की पढ़ने, खेलने की है, देखता हूँ तो मन में अहक उठती है। अगर ये बाल-श्रमिक रात-दिन परिश्रम न करें तो इनकी माँ और बहनों के फाका करने की नौबत आ जाया। ये बच्चे अपवाद नहीं हैं, इन्हीं की तरह अहिरान और चमरौटी में सैकड़ों बाल श्रमिक हैं, जो सूरज की आग की परवाह न करते हुए पेट पालने के लिए खेतों में हँसिया-बाँकी लेकर जूझ रहे हैं, जिन्दगी से जद्दो-जहद कर रहे हैं। अचानक राजेश रेड्डी का एक शेर याद आता है—

'वक्त्र से पहले ही पक जाती है कच्ची उम्र।

मुफलिसी नाम है बचपन में बड़ा होने का।'

मैं आमों की छाया में बैठा यन्त्रवत् चलते उन किशोर हाथों को निहार रहा हूँ और सोच रहा हूँ कि जिस दिन इनका चलना बन्द हो जायेगा, हजारों घरों में शाम को चूल्हे नहीं जलेंगे। दिल्ली में ए.सी. में बैठकर बाल श्रम कानून बनाने वालों को है इतनी फुर्सत जो इस प्रचण्ड धूप में आकर इन नन्हें हाथों की, जिनमें अभी लेखनी होनी चाहिए थी, बेबसी देख सकें ?

दोनों—चिन्टू और मिन्टू अपने लक्ष्य तक पहुँच कर कटनी बन्द कर बोझा बाँधना शुरू करते हैं। मुझसे देखा नहीं जाता। मैं बोझ बाँधवाने में उनकी मदद करने की नीयत से खेत में चला जाता हूँ। मेरे जाने से उनका उत्साह द्विगणित हो जाता है। प्लास्टिक की चप्पलें धूप में इतनी गरम हो गई हैं कि उन्हें उतार फेंक देने का मन हो रहा है। लेकिन ऐसा नहीं कर पाता क्योंकि चप्पलें उतार देने पर पाँव में सरसों की खूँटी चुभ कर पाँव घायल हो जाने का डर है। सबको साथ लेकर घर लौट रहा हूँ, सिवान खाली हो चुका है। गर्मी की विकरालता के चलते कटनिहार अपने-अपने घरों को लौट चुके हैं। घड़ी देखता हूँ, साढ़े दस से ज्यादा हो चुके हैं। अभी आधा चैत बीता है, लेकिन लग रहा है जैसे जेठ तप रहा है। मृगशिरा के 'दस तपा' जैसी आग बरस रही है। घर आकर देखता हूँ। पाँवों में दो तीन छाले झलक रहे हैं। 'पंकज कोष ओस-कन जैसे', पत्नी को दिखाता हूँ। फोड़कर पानी निकाल देना चाहता हूँ, वे मना कर देती हैं। छालों को देख उन्हें कष्ट होता है। मुझे कोसने लगती हैं—'वे सब तो कटनी कर रहे थे, आप वहाँ क्या कर रहे थे ? दोपहर में लौटना हो तो

कल से लवनी मत लाइयेगा। कहीं लू लग गई तो लेने के देने पड़ जायेंगे। यहाँ किसको पड़ी है जो आपका इलाज कराने बनारस लेकर जायेगा ? सभी तो भीतर-भीतर जलते हैं।’

नहा-खाकर नंगे बदन लुढ़क जाता हूँ, कमरे की फर्श पोंछवाकर। बिजली नहीं है, होती तो पंखे में हरकत होने लगती। बेना डुलाता हुआ सोता तो हूँ और थकान के कारण नींद भी लग जाती है, लेकिन उमस इतनी है कि थोड़ी ही देर में पसीने से पूरी पीठ भींग जाती है और फर्श से चिपक-सी जाती है। बेना डुलाता हुआ करवट लेता हूँ। इसी तरह करवटें बदलते कट जाती है पूरी दोपहरी, लेकिन आँखें गहरी नींद की अब भी मुंतजिर हैं। जी करता है, कच्चे बैठक की भीतरी कोठरी में बँसखट लेकर सो जाऊँ, वहाँ ठंडा रहता है, किन्तु वहाँ पर छोटे भाई सोते हैं, मैं जाऊँगा तो वे उठकर मशीन (अपनी चक्की) पर चले जायेंगे। मैं उनकी नींद में खलल नहीं डालना चाहता। और फिर यह पहली बार नहीं है, जब पसीने से तरबतर होकर बिना नींद के पूरी दोपहरी काट रहा हूँ। लगभग हर साल ही तो चैती की कटनी पर आना होता है और कई दफा उनींदे दोपहरी काट दी है। अगर ऐसा सोचूँ कि शहर का खरीदा हुआ सुख यहाँ भी प्राप्त हो जाये, तो ऐसा सोचना व्यर्थ है। गाँवों में तार तो दौड़ा दिये गये हैं और शासन का आदेश भी है कि किसानों को श्रेणिंग के सीजन में 14 गंटे बिजली उपलब्ध कराई जाये, मगर ऐसा कभी हुआ कहाँ ! सरकारी फाइलों के सच अगर ग्राम विकास मंत्री और उनके मंत्रालय के अधिकारियों के जीवन के सच बन गये होते और गाँवों के विकास के लिए आवंटित धनराशियों को पूरा नहीं, आधा भी यदि ईमानदारी से विकास कार्यों पर व्यय किया गया होता तो 11 पंचवर्षीय योजनावधि यानी 55 वर्षों में हमारे गाँवों का कायाकल्प हो गया होता।

पूरी देह मेरी पीसने से तर-बतर है और पीठ से पसीना बहकर सूखे फर्श को पानीदार बना रहा है। मैं उस पानीदार का पानी उतारना नहीं चाहता, लिहाज़ा उस पर दाहिने-बायें कलटता-पलटता साढ़े पाँच बजा देता हूँ। वैसे भी अपने आराध्य से कभी इतना सुख माँगता भी नहीं कि दुनिया के अति-दुखी जनों को देखकर बहटिया कर, तरह देकर चला जाऊँ, बिना चोट खाये। आखिर यह पीड़ा ही तो लेखक का धन है। अपनी ही गीत-पंक्तियाँ याद आ रही है—

‘नदी, झरना, झील होना, ताल होना है।
गीत सुख-दुख बाँटती चौपाल होना है,
पा जहाँ का दर्द मालामाल होना है।’

यह दुख तो मुझे विरासत में मिला है। याद आते हैं वे दिन, वे दुपहरियाँ जब इसी चैत-बैसाख की लू में पिताजी बनिहारों के संग ओसावन करते थे और कभी-कभी ओड़चा हाथों पर टाँगे-टाँगे आधा घंटा बीत जाता था, पछुवा ऐसी रूठ जाती थी, कि चलने का नाम नहीं लेती थी। तब ओसावन करने वाले पंखों का ईजाद नहीं हुआ था। लोगों के पास पैसे नहीं थे आज की तरह, लेकिन दिल बड़ा था। दिन भर बैलों की तरह खेतों में खटते

थे, पर शाम को हाथ-पैर धोकर सात दोहा रामायण (रामचरित मानस) नित्य सुनते थे। पास-पड़ोस के लोग भी जुट जाते थे। सुनने के लिए। रामायण-पाठ करते थे स्कूली बच्चे घर के। इससे सुन्दर संस्कार बनता था, सदगुणों का संचार होता था। जीवन का मूल-मन्त्र था-

साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम समाया

आप न भूखा रह सकै, साधु न भूखा जाया।

मुझे एक घटना का स्मरण हो आया। मैं इन्टर का छात्र था। गर्मी की छुट्टियाँ हो गई थीं। बैठक की कच्ची कोठरी में जमीन पर पानी का छिड़काव कर हम तीनों भाई खाना खाकर दोपहर में लेटे हुए थे। नींद भी लग गई थी। पिता जी बैठक के बरामदे में बँसखट पर लेटे थे। वे कुकुरनिदिया सोते थे, तनिक खट-खुट हुई कि जाग जाते थे। मध्य दुपहरी में एक छःफुटा कापालिक औषड़ काला चोंगा पहने आया। बोला, 'बाबू, रस पिला दो, आत्मा जल रही है, प्यास के मारे कंठ सूख रहा है।' पिताजी ने भीतर जाकर मुझे धीरे से उठाया, हिदायत दी कि बखरी का किवाड़ खुलवा कर अपनी माँ से छोटी बाल्टी-भर शर्बत (राब का) घोरवा कर और उसमें दही या मट्ठा, जो भी हो, डलवा कर ले आओ।' मैं अन्दर गया, माँ ने पूछा—कितने आदमी हैं ? मैंने कहा—एक। माँ ने एक बड़े फूल के लोटे में, जिसमें लगभग सवा लीटर पानी आ जाता था, शर्बत घोलकर दे दिया। मेरे हाथ में लोटा देखते ही पिता जी उबल पड़े—'तुमसे बाल्टी में लाने को कहा, लोटे में क्यों लाये ? जाओ उस दरिद्र (माँ के लिए) से कह दो, बाल्टी-भर कर भेजे।'

मैं छोटी बाल्टी भर शर्बत दही डलवा कर ले आया। वह औषड़ पूरी बाल्टी साफ कर गया। पी चुकने के बाद बोला—बाबू, तुम्हारी बढ़ोत्तरी हो। आज आत्मा टंडी हो गई। जुग-जुग जीओ, जुग-जुग जीओ।'

मुझे आज भी उसका यह वाक्य नहीं भूलता। उसके जाने के बाद पिताजी ने मानस की एक चौपाई की अद्दाली—'अन्न दान अरु रस पीयूषा' — सुनाते हुये कहा—'बेटा अन्न से बड़ा दान और रस से बड़ा तृप्तिदायक पेय दूसरा नहीं है। देखो, उस औषड़ फ़कीर के रोयें-रोयें से आशीर्वाद निकल रहा था। कोई भूखा-दूखा बिना खाये-पीये तुम्हारे द्वार से चला जाये तो श्राप लगता है। इसलिए ईमानदारी से खूब कमाओ, लेकिन उस कमाई का कुछ अंश दान-पुण्य और परोपकार के लिए भी लगाओ। रामायण में लिखा है—'परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहीं अधमाई।' किसी को नाहक तकलीफ मत दो और यदि कोई तुम्हें बिना वजह परेशान करना चाहे तो इतना धन और बल रखो कि पीठ दिखाने की नौबत न आवे।'

दोपहर में न सो सकने के कारण देह में सुस्ती छायी है। खेत पर जाने का मन नहीं हो रहा है। तभी चिन्टू का वाक्य—'बड़का बाबू, आप खेत पर बैठे रहते हैं तो बड़ा मनसायन रहता है और हँसिया भी तेजी से चलता है'—याद आता है और मैं पानी पीकर छड़ी और टार्च लेकर खेत के लिए रवाना हो जाता हूँ।

दोनों लड़के अपनी माँ के साथ 4 बजे से ही कटनी में जुटे हुये हैं। मैं मन ही मन उनकी लगन और नैष्ठिक ईमानदारी की प्रशंसा करता हूँ। उनकी माँ बैठकर काट रही है, लेकिन ये दोनों धनुषाकार लटके-लटके दँरातियाँ चला रहे हैं। दोनों की एक साथ चलती हुई दँरातियों से कट रहे पौधों से एक ऐसी संगीतात्मक ध्वनि निकल रही है, जिसे सिर्फ पास से ही सुना-समझा जा सकता है। दिल्ली के वातानुकूलित कमरों में बैठकर तो केवल फतवे दिये जा सकते हैं अथवा वारेन हेस्टिंग्स के साँड़ को साधा जा सकता है। मरा डाँगर निकियाते 'रामदीन' या गोबर के पहाड़ को उपलों में तब्दील करती करम-दरिद्री बाल विधवा 'सुरजा बुआ' जैसे चरित्र तो गाँव में रहकर ही सिरजे जाते हैं।

शाम के सात अभी नहीं बजे हैं। सुबह का आग से निकला स्वर्ण-गोलक अब गहरा तांबई हो गया है। मैं निर्निमेष उसे निहार रहा हूँ। सोनल किरनों का जाल सिमटकर उस ठंडे गोलक में विलीन हो गया है। अब वह पश्चिमी सीमान्त-स्थित एक पक्की इमारत के ऊपर विरमता-काँपता क्षितिज के तल देश में आहिस्ता-आहिस्ता समाता जा रहा है। एक धूसर साँझ पूरे परिवेश पर पसर जाती है। थोड़ी देर में अमावस्या की कालिमा में पूरा सिवान डूब जायेगा, लेकिन गेहूँ के खेतों में कटनिहारों के सधे हाथों की दँरातियाँ चलती रहेगी अनवरत, अविराम। जिस दिन देश के किसानों के हाथ रुक जायेंगे, 125 करोड़ के मुँह में आहार नहीं जायेगा। यह किसान का ही कलेजा है, जो चैत बैसाख के प्रचण्ड घाम, पूस-माघ की हाड़-कँपाती ठंड या सावन-भादों की भयावह काली रात में भी अपनी फसलों के लिए सोता-जागता है, जीता-मरता है। उसके खेत की फसलें लहलहाती हैं, तो मन लहलहा उठता है और अगर फसलें मुरझाती—सूखती हैं तो उसका दिल चाक-चाक हो उठता है। सिर्फ एक पानी के अभाव में सूख गई अपनी फसलों को देख उसे ऐसा लगता है, जैसे उसकी अपनी ही संतानें सूखा-रोग की गिरफ्त में पड़कर दम तोड़ रही हैं। तब उसे अपना जीवन भी निरुद्देश्य और निरर्थक लगने लगता है और ऐसी ही मनःस्थिति में वह आत्महत्या कर लेता है। विदर्भ के, जहाँ अब तक 40,000 किसान आत्महत्या करने को विवश हो चुके हैं, किसानों की लहलहाती फसलें सिर्फ पानी न पाने के कारण ही तो सूख गईं। इस सरकारी आँकड़े से वास्तविक स्थिति तो और भयावह है। विदर्भ के लगभग 14000 गाँवों में ही घूम-फिरकर क्यों किसान आत्महत्या करने को विवश होते हैं ? मेरा तो मानना है कि ये आत्महत्यायें नहीं, हत्यायें हैं, जिसके लिए सरकारों और उनके नुमाइन्दों को कटघरे में खड़ा किया जाना चाहिए। इस पूरे विदर्भ-क्षेत्र की सिंचाई के लिए सिर्फ एक वृहद परियोजना की ज़रूरत थी, जिसे सदैव अनदेखा किया गया। किसी जन-आन्दोलन के हिंसक हो जाने के पीछे कुछ ऐसे ही कारण हुआ करते हैं।

मैं अथवा कोई भी सोच-समझ वाला व्यक्ति नक्सलवादियों की हिंसात्मक गतिविधियों का समर्थन नहीं करेगा, क्योंकि इस तरह की हिंसात्मक कार्रवाइयों में निरपराध लोग मारे जाते हैं, चाहे हमारे पुलिस-पी.ए.सी. के जवान हों अथवा निरीह आदिवासी। लेकिन मूल

प्रश्न यह है कि इस तरह के आंदोलन जन्म क्यों लेते हैं ? मेरा मत है कि जब मेहनतकश मजदूर को उसके श्रम का प्रतिफल नहीं मिलता, अन्न उगाने वाला किसान भूखों मरने लगता है, कपड़ा बुनने वाला बुनकर अपना, अपने परिवार का तन नहीं ढँक पाता, मल्टीप्लेक्स बनाने वाले राजगीर, लोहार और बढ़ई झोपड़ियों में सारी जिंदगी काट देते हैं, अपने लिए एक छोटा मकान तक नहीं बना पाते और इन श्रमजीवियों के श्रम पर फलने-फूलने वाले थोड़े से लोग, जिनकी संख्या आज ज़्यादा से ज़्यादा देश की कुल आबादी की 10 प्रतिशत के लगभग है, देश की 80-90% पूँजी को हथियाये बैठे हैं, तो समाज के इन उपेक्षितों, शोषितों के भीतर एक गहरा असंतोष और उपेक्षा-भाव जन्मता है। यही कुशल नेतृत्व पाकर एक जन-आंदोलन का रूप ले लेता है। नक्सलवाद के प्रवर्तक चारू मजूमदार और कानू सान्याल ने भले इसे इतना उग्र और हिंसक हो जाने की कल्पना न की होगी, लेकिन घोर सामाजिक वैषम्य के फलस्वरूप और युवा नेतृत्व के चलते इसका हिंसक हो जाना असंभाव्य नहीं था।

आज अपने देश में अराजकता का माहौल है। अरबों-खरबों का गबन करने वाले राजनेता, पचासों हत्यायें करने-कराने वाले गुंडे और माफिया देश की लँगड़ी सरकार की बैसाखी बने हुए हैं। इन्हीं के नक्शे-क़दम पर हमारी कार्यपालिका भी चल रही है। न्यायपालिका भी इन बाहुबली गुंडों और भ्रष्ट मन्त्रियों की ज़रखरीद गुलाम बनकर इन्हीं का संरक्षण कर रही है।

सच्चे देशभक्त, समाजसेवी और देश के लिए शहीद हो जाने वाले सेनानी आज नेपथ्य में डाल दिये गये हैं। गुंडों, माफियाओं, भ्रष्ट नेताओं, क्रिकेटरों और नाचने-गाने वालों को महिमा-मंडित किया जा रहा है।

वरिष्ठ कवि जितेन्द्र राठौर की पंक्तियाँ इन भ्रष्ट नेताओं की कलाई खोलती हैं—‘मुजरिम वो नहीं/ जो आज क़ैदी है/ वो भी नहीं/ जो फरार है/ असली तो वो है/ जो तख़्त पर बरकरार है।’ बहुमंजिली महलनुमा इमारतों की रंगीन शामें जब जलसों में मस्त-व्यस्त पॉप संगीत की धुनों पर थिरक रही होती हैं, तब उन्हीं इमारतों के तल देश में फुटपाथों पर मीलों मील पसरी भूख खाली कटोरों के भर जाने की प्रतीक्षा में अकुलाती खड़ी रहती है। कुछ इसी तरह के मंजर देख मैंने लिखा है—

भूख एक से होकर जब, अनेक में जाती है
 राजा-रानी, ताज-तख़्त-सब कुछ खा जाती है
 सातों सागर का पानी भी नहीं बुझा पाता इसको
 बजा दुंदुभी जठरानल, जब करता है उत्पात।
 खाली पेट न कट पाती है माघ-पूस की रात॥

आज दिल्ली साहित्य के मठाधीशों की भी राजधानी है। ये मठाधीश भी आज बाजार के साथ क्रमताल मिलाकर चल रहे हैं, जन सरोकारों से इनका दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है। अपनी-अपनी पत्रिकाओं में अश्लील, अनैतिक परोस कर सिर्फ़ पैसा कमाना ही इनका ध्येय है। इनके अपने-अपने गुट हैं। खेमें हैं, जो एक-दूसरे पर कीचड़ उछालने में संकोच नहीं करते। लेकिन देश की राजनीतिक पार्टियों की तरह सभी एक ही थैले के चट्टे-बट्टे हैं। सभी खेमें अपने को प्रगतिशील वामपंथी कहते हैं लेकिन सरकारी सुविधाओं को हथियाते समय ये अपने 'शील' और 'पंथ'—दोनों को ट्विस्ट (Twist) कर देते हैं यानी सरकारी दक्षिणा लेते समय दक्षिणपंथी हो जाने से भी इन्हें परहेज नहीं है। हर सरकारी व व्यावसायिक साहित्यिक संस्थानों, हिन्दी अकादमियों, पुरस्कार-समितियों और विश्वविद्यालयों में इन मठाधीशों के जे.एन.यू. छाप चले हैं, जो इनके हंसिया-हथौड़ा वाले झंडे को सातवें आसमान तक ले जाने को अहर्निश कमर कसे रहते हैं। देश व समाज के शत्रु भ्रष्ट राजनेताओं से पुरस्कार प्राप्त कर उनकी स्तुति करने वाले ऐसे ही छद्म वामपंथी प्रगतिशीलों की जमात को देखकर किसी समय मैक्सिम गोर्की ने कहा था—'आज लेखकों को अपने आप से यह सवाल करना ही होगा कि वे किसके पक्ष में हैं—नाजियों का समर्थन करते हुए नष्ट हो जाने के या लोकतन्त्र और समाजवाद की हिफाजत के लिए हथियार उठाने के ?'

विश्व-साहित्य में शोता रुस्तावैली, खरिस्तो बोतिफ, बेंजामिन मौलाइस, क्रिस्टोफर काडवेल, लोर्का, सारोबीवा आदि अनेक कवि हुए हैं, जिन्होंने अपने देश की जन-विरोधी सरकारों के खिलाफ हथियार उठाया और अपने देश के लिए हँसते-हुए शहीद हो गये।

हमारे देश के ये 'साहित्य-माफिया' किसी लेखक से आत्म-तर्पण करा रहे हैं, किसी से उसके विश्वासघात की गाथा लिखवा रहे हैं, किसी हिन्दुस्तानी नवोदित तस्लीमा को उसके देह का स्वामित्व सौंप कर 'रास' रचा रहे हैं। ग़लत नहीं होगा यह कहना कि देहवाद में संलिप्त ये ऐंद्राजालिक यथास्थितिवादी लेखक समाज के सबसे बड़े शत्रु हैं और वह दिन दूर नहीं, जब समय खुद इनका पुनर्पाठ कर इनकी लानत-मलामत करेगा।

दूर खेतों से किसान और बटाईदार काम बन्द कर चकरोड पकड़े लौट रहे हैं, लेकिन चिन्टू-मिन्टू अभी भी निहुरे हुए बाँकियाँ चलाते जा रहे हैं। मैं कटिया बन्द कर बोझा बाँधने को कहता हूँ। वे 'दस मिनट और ठहर जाइये, पैड़ा पूरा कर लेने दीजिए', कहकर काटने लगते हैं।

मुझे निम्न रक्त चाप के कारण शाम को चक्कर आता है—यह बताकर मैं उनके उत्साह को टंडा नहीं करना चाहता। टार्च जलाकर घड़ी देखता हूँ, रात के सवा आठ हो रहे हैं। आगे बढ़कर देखता हूँ। 18 बिस्के का वह टपरा खाली हो गया है। मैं दोनों को बोझा बाँधने में मदद करता हूँ, काम जल्दी निपट जाता है। तब भी सवा नौ बज ही जाते हैं। मैं चिन्टू

के सहारे ऊँची-नीची मेंड़ पकड़ चकरोड पर आ जाता हूँ। टार्च न होती तो पहला दिन होने के कारण रास्ता चलने में दिक्कत होती।

पत्नी खाना बनाकर अलका के साथ दरवाजे पर बैठ प्रतीक्षा कर रही हैं। मैं दस मिनट विश्राम कर सीधे स्नान कर खाना खाता हूँ। थकान इतनी कि खाने के बाद 10 मिनट टहलने की भी इच्छा नहीं होती, गोकि टहलना मेरी दिनचर्या का एक अंग है, जिसमें शायद ही कभी व्यवधान आता हो। भतीजा महेन्द्र चक्की से लौटकर खाना खा रहा है, वह आयेगा तो मच्छरदानी लगवा लूँगा—ऐसा सोच चारपाई पर निढाल पड़ जाता हूँ, लेकिन नींद ऐसी कि सुबह चार बजे ही खुलती है, जब बीघे भर में फैले दरवाजे के उत्तरी छोर पर पसरी सघन बँसवारी में विभिन्न प्रकार के पक्षियों का समवेत स्वर अँधेरी रात की निस्तब्धता को भंग करता है। उसी समय शिवाला का पुजारी मंदिर के विशाल घंटे को चार बार बजाकर गाँव वालों को ब्रह्ममुहूर्त में उठ जाने की सूचना देता है। पाँचेक मिनटों के बाद पक्षियों का स्वर थम जाता है, क्योंकि अभी सुबह होने में देर है। सिहरावन लगने लगता है, मैं चादर ओढ़कर दुबारा सो जाता हूँ।



13 अप्रैल, 2012 – शुक्रवार

बँसवारी में कलरव दुबारा होने के पूर्व, कोयल कूहू-कूहू कर सत्राटे को तोड़ने लगती है और मैं आलस की चादर फेंककर उठ बैठता हूँ। ध्यान आता है चिन्टू-मिन्टू का। जल्दी-जल्दी नित्य कर्म से निवृत्त हो मुखारी मुँह में दबा खेत के लिए चल देता हूँ। शिवाला के पश्चिम यादवों के तीन-चार घर हैं, जहाँ कभी हम लोगों का एक विशाल देसी आम का पेड़ हुआ करता था, जिसे बचपन में हम लोग सझइतवा (साझे का) कहा करते थे। इसके फल हमारे और पट्टीदार के बीच आधा-आधा बँट जाते थे। इस अकेले पेड़ के आधे आम, जो हिस्से में मिलते थे, की कम से कम 3-4 पालें डाली जाती थीं। पाल जब खुलती थी, हम लोग खुश हो जाते थे। बड़ी-बड़ी बाल्टियों में कुओं का ठंडा पानी भरकर आम भिंगो देते थे और दुपहरिया बीत जाने पर शाम 5 बजे बाल्टी से कोपर निकाल-निकाल कर जी भर खाते थे। आज वह आम का पेड़ नहीं है, लेकिन वहाँ से गुजरते समय असंख्य फलों से लदे 'सझइतवा' और उसकी रेशेदार-रस-भरी कोपरों की याद चेतना को झकझोरे बगैर नहीं छोड़ती।

आज 'सझइतवा' नहीं है किन्तु उससे चार मीटर दक्षिण में उसका पड़ोसी महुआ उसी तरह चैत के महीने में अपनी महुआइन नशीली गंध प्रातःकालीन समीर को सौंप उसे उन्मत्त बनाये बगैर नहीं छोड़ता। मैं महुआ के नीचे से गुजर रहा था कि एक महुआ का फल चूकर टप्प से मेरी खोपड़ी पर गिरता है। मेरी चेतना में माँ से बचपन में सुनी साँप और महुआ की कहानी दस्तक देने लगती है—किसी महुआ के पेड़ से थोड़ी दूरी पर एक मिट्टी का ढूह था, जिसमें बिल बनाकर एक बहुत पुराना साँप रहता था। वह फागुन-चैत के महीने में तड़के दूब की फुनगियों पर टँगी ओस चाटने निकलता था। जब महुआ के पेड़ के नीचे से गुजरने लगता, टप-टप चूते महुओं की मार से क्षुब्ध हो फन काढ़े महुए के पेड़ से सवाल करता—

'टीप से टपाक से, कपार काहे फोरे रे ?'

महुआ नपा-तुला उत्तर देकर चुप हो जाता—

'उंगे से, बोंगे से, भोर काहे निकरे रे ?'

दिन-रात भर में साँप यह मार भूल जाता और भोर में महुए के नीचे से ही गुजरता। फिर वही टीप, टपाक, फिर वही प्रश्न, फिर वही उत्तर। माँ से सुनी 'कहानी' के इस सनातन

प्रश्नोत्तर को विश्लेषित करता मैं अपने खेत पर पहुँच जाता हूँ। तभी विदेसिया की चिर-परिचित स्वर-लहरी भोर की दखिनहिया हवा के साथ कान में सनसनाती हुई पहुँचती है—

‘चढ़ली जवनियाँ मोर अंग-अंग फड़के से

कब होइहैं गवना हमार रे भउजियाऽऽऽ।

हथवा रँगाइ सैयाँ देहरी बैठाइ गइलैं

फेरि नाहीं लेहलैं उदेस रे भउजियाऽऽऽ,

‘यह सन्तू चमार तो नहीं गा रहा है, चिन्टू ?’ मैं पूछ बैठता हूँ।

‘हाँ ऊहै हउवैं बड़का बाबू,—बराहीपुर (इब्राहिमपुर) के पाँड़े बाबा क अधिया लेहले हउवैं। बहुत बढिया गावै लँऽ’—भोजपुरी में उत्तर देता है चिट्।

सन्तू, कुमार भाँड़ मंडली का लौंडा (नर्तक-गायक) जिसे, बारह-तेरह की उम्र तक बीसों बार मुँह में मुर्दा शंख का पाउडर पोते, साड़ी पहन नाचते-गाते देख चुका हूँ, अचानक अपनी उसी सज-धज में स्मृति की आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। चालीस साल पहले देखा उसका चेहरा और लगभग पचास साल पहले सुने उसके गाने का स्वर पहचानने में मुझे तनिक देर नहीं लगती। घर और बाहर मैं अपने भुलक्कड़ स्वभाव के लिए मशहूर हूँ, लेकिन आज मुझे अपनी याददाश्त पर गर्व हो रहा है। स्मृतियों के कोष में कितना कुछ भरा हुआ है—इसका अंदाजा लगाना मुश्किल है। इस कोष में अनजाने ही सहेजे गये हीरा-मोती-मूँगा कब अपने रूपाकार के साथ प्रगट हो जायेंगे—कोई नहीं जानता।

सन्तू मुझसे उम्र में बहुत बड़ा था। इस समय न होगा तो 75 साल का होगा, लेकिन इस उम्र में भी उस वृद्ध के गले में वही लोच, वही मिठास है। हाँ-आलाप की ऊँचाई कम जरूर हो गई है।

हम लोगों के बचपन में देहात की शादियाँ गर्मियों में ही हुआ करती थी, जब चैती का खलिहान उठ जाता था। दो महीनों तक किसान के आराम करने का समय होता था। इन्हीं दो महीनों में शादी-विवाह की लग्न रखी जाती थी। तब बारात बड़हार रहती थी, तीसरे दिन बिदा होती थी। इन दो दिनों के खालीपन को भरने के लिए मनोरंजनार्थ ज्यादातर नौटंकी या भाँड़ मंडलियाँ जाती थीं। बड़े ज़मीदारों के बेटों की शादियों में नौटंकी के साथ-साथ रंडियों के नाच की भी व्यवस्था रहती थी। भाँड़-मंडलियाँ नाच-गाना, कैरीकेचर (नकल) आदि के अलावा दोनों रातों में एक-एक नाटक भी करती थी। नाटक पौराणिक अथवा ऐतिहासिक हुआ करते थे। सन्तू चमार, मुझे आज भी याद है, ‘राजा हरिश्चन्द्र’ में शैव्या का और ‘मोरध्वज’ नाटक में रानी का रोल किया करता था। सन्तू एकदम निरक्षर था, लेकिन क्या मजाल कि कहीं कोई संवाद भूल जाये। गोरा और सुन्दर होने के नाते गाँव वाले कहा करते थे कि सन्तूआ बुधइया का नहीं, डंगर सिंह का लड़का है। लेकिन इसका न बुधई बुरा मानते थे, न ही उसकी औरत। हो सकता है कि इस वर्णसंकरता ने ही सन्तू

में एक साथ इतने सारे वैशिष्ट्य भर दिये हों। यही वजह थी कि लोग प्रायः यह कहते पाये जाते थे कि जिस दिन सन्तुआ हट जायेगा, 'कुमार भाँड़ मण्डली' टूट बिखर जायेगी।

जिस तरह सन्तू मेरी बाल-स्मृतियों में बसा हुआ है, उसी तरह श्यामा रंडी और उसकी गायी जयदेव के गीत गोविन्द की दो पंक्तियाँ 'ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे/ मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुंज कुटीरे' मेरे मनस्पटल पर अंकित हैं, जिसे मैंने 1954 में अपने बड़े भाई की शादी में सुनी थी।

एक छोटे से क्रस्बे सैयदराजा की रहने वाली थी श्यामा उर्फ सुदामा रंडी। संस्कृत समझती भी थी या नहीं, किन्तु मेरे गाँव के कुछ शास्त्रीय संगीत विशेषज्ञों की विशेष फर्माइश पर उसने दिन के लगभग नौ बजे जो 'गीत गोविन्द' के गीत सुनाना आरम्भ किया तो अपराह्न एक बजे बन्द किया, जब बारात को जेवनार का बुलावा आया। जून महीने की नीरस-शुष्क दोपहरी को सरस-सलिल बनाती श्यामा की स्वर-लहरी हवाओं में गूँजती रही और रसिक बारातियों के साथ, गाँवों के अनपढ़ श्रोता भी उसमें डूबते-उतरते रहे। आज जब उसकी याद आई है तो मन होता है कि अगर वह कहीं मिल जाये तो उस नृत्यांगना के चरण चूम लूँ। मैं सातवीं कक्षा में था और संस्कृत पढ़ता था। श्यामा के गाये गीतों का भावार्थ भी तब मेरी समझ में नहीं आता था, किन्तु उस नर्तकी के कोकिल-कंठ की स्वर-माधुरी में इतना आकर्षण था और गीत के पदों में इतना लालित्य और प्रवाह था कि मैंने हाईस्कूल में ही अपने पुस्तकालय से लेकर पूरा 'गीत गोविन्द' पढ़ डाला।

सोचता हूँ जब टी.वी. नहीं था वीडिओ, डी.वी.डी., लैपटाप, इंटरनेट कुछ नहीं था, तब ये नर्तक, नर्तकियाँ और भाँड़ गाँव की ऊसर-वीरान जिन्दगी को सरस-मधुर बनाने में कितनी अहम भूमिका निभाते थे !

सन्तू 'विदेसिया' गा रहा है और मैं उसमें खो-सा जाता हूँ। अपने ग्राम्यांचलों में प्रचलित लोक-गीतों के बारे में सोचने लगता हूँ। पर्व-त्योहार, शादी-विवाह, मुंडन, छेदन, बिदाई, रोपनी-सोहनी आदि के लोक-गीत हैं, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी श्रुतियों के माध्यम से हजारों वर्षों की यात्रा कर चुकने के बाद भी थके नहीं हैं। वैसे ही तरोजा है। आज भी हमारा लोक-मन इन्हीं गीतों में रचा-बसा है। यह अपने सुख-दुख, हर्ष-उल्लास, करुणा, उदासी आदि की अभिव्यक्ति इन्हीं गीतों के माध्यम से करता आया है। कजली, फाग, चैता, लावनी, बिरहा, लोरकी, सोहर, नकटा आदि उसकी जीवनी-शक्ति थे, उसकी जिजीविषा के सम्बल थे। आज माना कि हमारा सामाजिक-पारिवारिक ढाँचा चरमरा गया है। बाज़ारवाद ने हमारी संवेदना को सोख लिया है, हमें बाजार में बिक रही वस्तुओं की तरह एक जिन्स बनाकर छोड़ दिया है, तो भी हमारे ये लोकगीत अभी भी हमारी ग्राम्य-संस्कृति के अभिन्न अंग बने हुए हैं। न ये तब अप्रासांगिक थे, न ही आज। टी.वी. चैनलों के माध्यम से पश्चिम की भोगवादी संस्कृति ने निश्चय ही हमारे जन-जीवन को प्रभावित किया है और लोकगीतों को 'रिप्लेस' करने की खतरनाक साजिश की जा रही है, लेकिन मेरा अटल विश्वास है कि

जब तक हमारे गाँव रहेंगे, खेत रहेंगे, बाग रहेंगे, हमारे लोक-मन में बसे, ये गीत गाये जायेंगे, गाये जाते रहेंगे। कोई पॉप सांग इन्हें विस्थापित नहीं कर पायेगा। ये गीत ही हमारे टूटते रिश्तों को जोड़ेंगे, टूटते विश्वास को बचायेंगे, मनुष्य-मनुष्य के बीच चौड़ी हो रही खाई को पाटेंगे। ये ही प्रेम के अमर गीत बनकर धरती के क्षत-विक्षत तन पर चन्दन लेप करेंगे और उद्घोष करेंगे—‘सवारि ऊपर मानुष सत्या’ प्रेम की डोर में बँधी मानव जाति को कोई परमाणु बम भी नहीं मिटा सकता।

धीरे-धीरे धुँधलका छँट जाता है। कल की तरह पूर्वी क्षितिज धुला-पुँछा, निर्मेष नहीं है, वहाँ काले बादलों की एक लम्बी मोटी लकीर सी पसरी हुई है। सिवान के पूर्वी छोर से उगता हुआ सूरज आज शायद ही दिखाई दे। तो भी मैं टकटकी बाँधे उधर ही देखने लगा हूँ। उगते हुये सूरज को देखना, उसके रूप, रंग और आकार को क्षण-क्षण बदलते हुए निरखना मुझे सदैव बहुत अच्छा लगता रहा है। जब भी उदित होते सूर्य को देखा है, दोनों हाथ स्वतः जुड़कर माथ पर आ लगे हैं और शीश श्रद्धा से झुक गया है। सूरज का होना पृथ्वी का होना है, पृथ्वी पर वनस्पतियों का होना है, जीवन का होना है। जिस दिन सूरज नहीं रहेगा, पृथ्वी से जीव-सृष्टि की समाप्ति हो जायेगी। यही कारण है कि हमारे ऋषियों ने सूर्य-उपासना के लिए बहुतेरे मन्त्रों का सृजन किया। वैदिक ऋषियों का ध्यान सूर्य के निम्नलिखित गुणों की ओर गया—अन्धकार का नाश, राक्षसों का नाश, दुखों और रोगों का नाश, नेत्र-ज्योति की वृद्धि, चराचर की आत्मा और लोकों का धारण। शुक्ल यजुर्वेद में सूर्य-पिंड के भीतर विद्यमान चेतन पुरुष को ब्रह्म-स्वरूप कहा गया है :

‘हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम् मुखम्।

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्’॥

(उस अविनाशी आदित्य देवता का शरीर सुनहले ज्योतिपिंड से आच्छादित है। उस आदित्य-पिण्ड के भीतर जो चेतन पुरुष विद्यमान है, वह मैं ही हूँ।)

श्रीराम दुर्जय रावण से लड़ते-लड़ते थक-से गये थे और चिंतातुर किर्कतव्यविमूढ़ होकर युद्धभूमि में खड़े थे, उसी समय अगस्त्य मुनि ने, जो देवताओं के साथ युद्ध देखने आये थे, उन्हें ‘आदित्य हृदय’ स्तोत्र का जाप करने को कहा। ‘आदित्य-हृदय-स्तोत्र’ का एक श्लोक है—

नाशयत्येष वै भूतम्, तमेव सृजति प्रभुः।

पायत्येष, तपत्येष वर्षत्येष गभस्तिभिः॥ वा.रामा.—युद्ध.

(रघुनन्दन ! ये भगवान सूर्य ही सम्पूर्ण भूतों का संहार, सृष्टि और पालन करते हैं। ये ही अपनी किरणों से गर्मी पहुँचाते और वृष्टि करते हैं।)

और स्तोत्र-जाप के बाद श्रीराम ने रावण का वध किया।

इस 'आदित्य हृदय-स्तोत्र' के जाप के माहात्म्य का मुझे स्वतः अनुभव है। छोटी बेटी, जब वह कक्षा-5 में पढ़ रही थी, मिरगी रोग से ग्रस्त हो गई, हाथ काँपने लगे और मुँह टेढ़ा हो गया। घंटे-भर बाद उसकी आवाज भी गायब हो गई। डाक्टर ने उसकी आवाज तो लौटा दी, लेकिन असली बीमारी ज्यों की त्यों। उसी समय मुझे एक सन्त-तुल्य महात्मा मिले। उन्होंने 'आदित्य-हृदय-स्तोत्र' का जाप करने को कहा ! मैं दवा भी करने लगा और स्तोत्र जाप भी। थोड़े ही दिनों में वह रोग-मुक्त हो गई और मैं चिन्तामुक्त। तो मैं पूरब दिशा में निर्निमेष देखता जा रहा हूँ, उसी आदित्य अथवा 'सविता' के बाल-स्वरूप के दर्शन की ललक लिये। काले बादलों की मोटी दीवार या पट्टी जो उत्तर से दक्षिण तक उदयाचल पर पसरी है, बाल-रवि को बाहर आने नहीं देना चाहती। किन्तु जब अमावस्या की गहन कालिमा इसे नहीं रोक पाती तो इन अल्पजीवी, अनाहूत मेहमानों की क्या औकात। देख रहा हूँ, थोड़ी ही देर में काले बादलों की ऊपरी पट्टी सुनहरी हो गई है, जैसे किसी ने प्राची की काली साड़ी पर सोने का गोटा लगा दिया हो। सूरज ऊपर चढ़ रहा है, रोशनी का सैलाब उमड़ने वाला है। पीछे से आ रहे ताप को झेल पाने में असमर्थ बादल बिलाने लगे हैं। कुछ ही क्षणों में वह अपने सम्पूर्ण तेज के साथ प्रगट होता है। मेरे हाथ उसे प्रणामांजलि देने को स्वतः जुड़ कर माथे पर आ लगते हैं। अद्भुत दृश्य है !

'क्षणो-क्षणो नित नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाम्'

आज की यान्त्रिकता ने हमारी बुद्धि, हमारी सम्पूर्ण चेतना को यन्त्र बना कर छोड़ दिया है। हम इतने कुन्द-जेहन हो गये हैं कि क्षण-क्षण नवीन होते प्रकृति के नयनाभिराम मंजर भी हमें नहीं सुहाते। गुलाब सिंह की नवगीत-पंक्तियाँ स्मरण हो आती हैं—

*'फूल पर बैठा हुआ भँवरा
शाख पर गाती हुई चिड़िया
घास पर बैठी हुई तितली
और तितली देखती गुड़िया
हमें कितने दिन हुये देखे।'*

भौतिकता ने हमें इतना जकड़ रहा है कि हम नित्य सुबह सैर करने बाग में जाते हैं, लेकिन कभी भी खिले फूलों पर मँडराते भौरै, अमराई में कूकती कोयल या दूब की फुनगी पर बैठी तितली देखने की सुध ही नहीं आती। रोगी मन लिये जाते हैं और वैसे ही लौट भी आते हैं।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है—'किसी वाद्ययंत्र का भार ढोते रहना उसके मूल्य का हिसाब करते रहना और यह कभी न जान पाना कि इसमें संगीत भी निकलता है, अनमने जीवन का सबसे बड़ा विषाद है।' आज हम जीवन-रूपी वाद्ययन्त्र को ही तो ढो रहे हैं, दौलत का लेखा-जोखा ही तो सारी उमर कर रहे हैं। कहीं है जीवन में संगीत ?

बुद्धि के विज्ञान ने हमारी संवेदनाओं को सोख हमें पुच्छ-विषाणहीन पशु बनाकर छोड़ दिया है। हमारे जीवन का संगीत कहीं खो गया है। हमारी चेतना को ऊर्जस्वित करने वाली, हमें सुसंस्कारित करने वाली कविता सुनने के लिए किसी के पास समय नहीं है। औंधे मुँह पड़ी वह कराह रही है। हमें यदि ज्वालामुखी के मुहाने पर बैठी दुनिया को बचाना है, तो संगीत को बचाना होगा, कविता को बचाना होगा। कविता बची रहेगी तो मनुष्यता बची रहेगी।

जब वियतनाम हो ची मिन्ह के नेतृत्व में अमेरिकी साम्राज्यवाद के खिलाफ युद्ध का बिगुल बजा चुका था, उसी समय वियतनामी कवि लेचिन विन ने लिखा—‘हमारे सिपाही जब युद्धक्षेत्र में जाते हैं, लोग कवितायें लिखकर उनकी जेबों में डाल देते हैं। हम उन जेबों की कुशल-कामना करते हैं, जिनमें कवितायें पड़ी हुई हैं। आज अगर हमने कविता को बचा लिया तो समझो, मनुष्य को बचा लिया।’

पूर्व दिशा से काले बादलों की पट्टी गायब हो चुकी है। सूर्य तप्त रजत-गोलक का रूप ले चुका है। मेरी दृष्टि अचानक मध्य आकाश में जाती है। देखता हूँ कि श्वेत बादलों के टुकड़े बिखरे हुये हैं। लग रहा है कि किसी उपत्यका पर सफेद भेड़ों का झुण्ड घास चरने में व्यस्त है।

धीरे-धीरे ताप बढ़ रहा है। दोनों लड़के अपनी माँ के साथ गेहूँ के डंठलों को पूरी तन्मयता से काटते-गिराते जा रहे हैं। सुबह चार बजे से निरन्तर चल रही दँरातियों की गति तनिक मन्द नहीं हुई है। मैं मोटा खादी का गमछा सिर पर बाँधकर मेड़ पर बैठ जाता हूँ। आज आम के पेड़ों की छाया में जाने का विचार भी नहीं उठता। माँ, दोनों बेटों के साथ पूरब मुँह किये कटिया कर रही है। तीनों के कपड़े पसीने से तरबतर हैं। माथ से बहता पसीना जब आँखों में आने लगता है, वे आँचल और कमीज की बाँही से पोंछते जाते हैं। लेकिन रुकने का नाम नहीं ले रहे हैं। मानो सूरज को चुनौती भरे स्वर में कह रहे हों कि ‘चाहे जितना तपो-जलो, ये हाथ नहीं रुकने वाले हैं। पैड़ा माथे लगाकर ही विश्राम करेंगे।’ काम करते रहने पर धूप हो या ठंड, महसूस नहीं होती— ऐसा सोच मैं घाम की प्रखरता को महटिया जाने के लिए चिटू से पूछता हूँ—

‘और कोई बाँकी लाये हो कि तीन ही हैं ?

‘क्या करियेगा ?’—चिन्टू प्रतिप्रश्न कर देता है। ‘बैठे-बैठे घाम लग रहा है। बाँकी हो तो मैं भी थोड़ा-मोड़ा काटूँ।’

‘नहीं बड़का बाबू, आप अपना हाथ काट लेंगे। आम-तर चलिये, नहीं तो तबेत खराब हो जायेगी।’ कहते हुये चिटू मुझे उठाकर ले चलने के लिए काम बन्द कर देता है।

‘तुम रुको, मैं जा रहा हूँ’—कहकर मैं उसे रोक देता हूँ।

चिन्टू मेरी पोती से एक-दो साल बड़ा होगा लेकिन वह जिस प्रौढ़ अंदाज़ में मुझे आदेश देता है कि उसे सुनकर मुझे युवावस्था की एक घटना याद आ गई :

मैं एम.ए. कर रहा था। दशहरे की छुट्टी में गाँव गया था। चकबन्दी नहीं हुई थी। छोटे-छोटे खेत कई जगह बिखरे हुये थे। हल-बैल से जुताई होती थी। क्वार-कार्तिक के महीने में 3 बजे तड़के हल नँध जाते थे। बनिहारों ने चार खेत जोतकर छोड़ दिया था, एक ही सिवान में। चारों के कोन खोदने को रह गये थे। मुझे मालूम हुआ और मैंने फावड़ा उठा लिया। चिन्टू की तरह पिताजी ने मना करते हुए कहा—

‘तू पढ़वइया लड़का हउवा। तोहसे कुवार क घाम बरदास न होई, बेराम होय जइबा। रहै दऽ, बच्चा (बड़े भाई) खन अइहैं।’

इतनी हिदायत दे पिताजी कहीं चले गये। चाचा ने मना नहीं किया और मैं एक साँस में चारों खेतों के सोलह कोन खोद दिया। तनिक भी थकान नहीं महसूस हुई। बालीबाल का अभ्यास काम आया।

मैं खेत से उठकर आमों की छाया में आकर बैठता हूँ। थोड़ी ही देर बाद पॉकेट में पड़ा मोबाइल घनघनाने लगता है। घर से भतीजे का फोन है—‘बाबूजी, इंटर कालेज वाले प्रभाकर मास्टर साहब आये हैं, आपके ही लिए रुके हैं।’

मैं चिन्टू-मिन्टू को बताकर घर लौट आता हूँ।

‘भीषण गर्मी है, प्यासे होंगे मास्टर, ऐसा सोच मैं पत्नी को, जो चूल्हे के पास मचिया पर बैठ कुछ बना रही हैं, कष्ट न देकर, स्वयं डिब्बे से बिस्कुट निकालता हूँ और गगरी से जग भर, साथ में दो गिलास लेकर दरवाजे पर जाता हूँ। वे चारपाई छोड़ दोनों हाथ जोड़ मेरा अभिवादन करते हैं। बताते हैं—‘भैया मैं पानी-चाय पी चुका हूँ, आप खेत से आ रहे हैं, नाश्ता कर लीजिए, फिर बातें होंगी।’

पानी पी चुकने के बाद मैं पत्नी से दो कप चाय बनाने को कह प्रभाकर जी को पक्का में ही बुला लेता हूँ।

प्रभाकर सिंह गाँव के कालेज में हिन्दी के प्रवक्ता हैं और उद्भट साहित्यानुरागी हैं। शहर-देहात का शायद ही कोई कवि-सम्मेलन उनसे छूटता हो। कवि-सम्मेलन में उनकी मोटी डायरी और कलम आवश्यक रूप से उनके साथ होती है। वर्ष 2004 के दिसम्बर महीने में कवि ओम धीरज के गीत संग्रह के विमोचन के समय मुझसे रात के 12 बजे (कवि सम्मेलन में जो विमोचन के बाद सम्पन्न हुआ) मिले। डायरी खोलकर लगे मेरे गीत की पंक्तियाँ सुनाने। मेरे ही नहीं गुलाब सिंह, नचिकेता, कैलाश गौतम, श्रीकृष्ण तिवारी—सभी के गीतांश उनकी डायरी में दर्ज थे।

मैंने पूछ दिया—‘इस आधी रात में ‘गाँव कैसे जायेंगे ?’

बोले—‘साइकिल तो है, लेकिन रात अंधेरी है और ठंडक भी ज्यादा है। यही कहीं विद्यालय के बरामदे में गमछा बिछाकर सो जाऊँगा।’

‘ठंड नहीं लगेगी ?’ मैंने शंका की।

बोले—‘भीतर स्वेटर है, ऊनी कुर्ता है, सदरी भी है। सदरी पीठ के नीचे बिछा लूँगा। बैग में ऊनी चादर है, ओढ़कर बिता दूँगा रात, सिर्फ़ तीन-चार घंटे की तो बात है।

वह रात मुझे भी नहीं भूलती। कवि-सम्मेलन देखने मेरे एक रिश्तेदार का लड़का भी गया था, अपनी नयी खरीदी कार लेकर, और आश्वासन दिया था कि वह मुझे गाँव छोड़ देगा। आयोजन-स्थल, सकलडीहा से मेरा गाँव छः किमी. दूर था। मैं निश्चिन्त था। कवि-सम्मेलन की समाप्ति पर मैं उस लड़के को ढूँढ़ने लगा, कहीं नहीं दिखा, रात के बारह बजे मुझे ओम धीरज (जो उस समय सकलडीहा के एस.डी.एम. भी थे) के कहने पर एक तहसीलदार ने गाँव से 2 किलोमीटर दूर छोड़ दिया और मैं साढ़े बारह बजे रात घुप्प अँधेरी रात में, बिना टार्च के गाँव गया। एक बजे रात घर पहुँचा, पत्नी विचारी खाना बनाकर मेरी प्रतीक्षा कर रही थीं। उन्होंने तब तक खाना भी नहीं खाया था। मेरे जाने पर चूल्हा जलाकर पहले मुझे चाय पिलाई, तदनन्तर खाना गरम किया। इस माने में मैं अपने भाग्य को सराहता हूँ।

पत्नी की तुलना जब बहू से करता हूँ तो पाता हूँ कि इस अन्धे दौर ने आज की पूरी पीढ़ी को इतना स्वार्थी और शिष्टाचार-शून्य बना दिया है कि अपने सगे के लिये भी वह कोई त्याग नहीं करना पसंद करती। मेरे सुपुत्र किसी दिन अपने दवा के कारोबार के चलते शहर से 20-25 किमी. दूर चले जाते हैं और रात में देर से आ पाते हैं, तो बहू प्रतीक्षा करना तो दरकिनार, खा पीकर निश्चिंत सो जाती है। पत्नी मेरे साथ जागकर प्रतीक्षा करती हैं।

प्रभाकर जी से पूछा मैंने—‘मास्टर साहब, कैसे आना हुआ ? मेरी अनुपस्थिति में आपको घंटों प्रतीक्षा करनी पड़ी। क्या कोई ख़ास प्रयोजन ?’

‘हाँ—भैया, मेरे एक रिश्तेदार छत्तीसगढ़ में अध्यापक हैं। वहाँ उन्होंने एक कवि सम्मेलन आयोजित किया है। मुझे भी आमंत्रित किया है। आप तो जानते हैं कि मैं कविता नहीं लिखता। दो चार लिखी भी हैं, तो कहीं सुनाने लायक नहीं हैं। आप मेरे सम्मान की रक्षा कीजिए। अपनी एक-दो कविता मुझे लिखकर दे दीजिए। मैं वादा करता हूँ कि मैं उसे आपके नाम के साथ जोड़कर ही पढ़ूँगा।’

‘आपकी डायरी में तो तमाम कवियों की कवितायें दर्ज हैं। क्यों मेरी ही कविता पढ़ना चाहते हैं ?’

‘हैं तो, लेकिन आधी-अधूरी। कोई गीत या कविता पूरी नहीं है। आप को मेरी बात पर यकीन न आ रहा हो तो मैं वापस चला जाऊँगा। वैसे मैं आपको सच्चे मन से वचन देता हूँ कि अपना एक-दो मुक्तक सुनाकर आपका नाम बताकर ही आपका गीत पढ़ूँगा।’

मैं जानता हूँ कि प्रभाकर जी निहायत सरल और निश्छल व्यक्ति हैं और पूरे कालेज के स्टाफ में वही एक आदमी हैं, जो किसी के मुँह से मेरे खिलाफ़ कोई बात नहीं सुन सकते। दो-तीन बार इन्होंने कालेज के वार्षिकोत्सव पर कवि-सम्मेलन का प्रस्ताव रखा लेकिन

अध्यक्ष और प्रबन्धक ने टाल दिया, सिर्फ इसलिए कि प्रभाकर जी उस सम्मेलन में मेरे सम्मान का प्रस्ताव भी रख रहे थे। प्रबन्ध समिति का अध्यक्ष मेरा पट्टीदार है, जो किसी बैंक में कैशियर है, वह मुझसे अकारण ईर्ष्या रखता है। मेरे बड़े भाई साहब जब प्रबन्धक थे, तो वह उनकी चमचागिरी करता था, क्योंकि प्रबन्ध समिति का मेम्बर होना चाहता था।

प्रभाकर जी एक काव्यप्रेमी व्यक्ति हैं और मेरी यह धारणा है कि कविता से प्रेम करने वाले व्यक्ति की अन्तरात्मा में कोई मालिन्य नहीं हो सकता।

उनकी स्पष्टवादिता में मुझे कोई कल्मष या चालाकी नहीं दिखाई देती और मैं उन्हें अपना गीत संग्रह दे देता हूँ, यह कहकर कि 'इसमें से दो गीत नोट कर लीजिए।' आज तो कुछ कवि अलानियाँ दूसरे की पूरी की पूरी कविता काव्य-मंचों पर पढ़कर वाहवाही बटोर रहे हैं। अभी जनवरी में इश्किया फिल्म के गीत 'इब्बतूता के जूते' को लेकर गुलजार को शर्मिन्दा होना पड़ा था क्योंकि गीत का मूल स्वर सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का था।

मैं लोटा-बाल्टी ले चापाकल पर जाकर नहाता हूँ। प्रभाकरजी से खाना खाने का आग्रह करता हूँ। 'नहीं भैया, सुबह का स्कूल है, टिफिन लेकर आता हूँ। आपके यहाँ आने से पहले भोजन कर लिया था। अब आज्ञा दीजिए। अभी चन्दौली जाकर बैंक से पैसे निकालना है।' कहते हुए वे प्रसन्न-चित्त चले जाते हैं। मैं खाना खाता हूँ और कमरे का फर्श धो-पोंछकर एक पतला तकिया लेकर पसर जाता हूँ। बड़ा सुख मिलता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर का यह कतन याद ही नहीं करता, महसूस भी करता हूँ कि 'जिस प्रकार एक नदी अपनी पूर्णता समुद्र में पाती है, उसी प्रकार कार्य की पूर्णता विश्राम की गहराई में मिलती है।'

जूड़ होने पर खेत पर जाता हूँ। एक बीघे का टपरा तीन चौथाई खाली हो चुका है। लड़के दोनों अपनी माँ के साथ जूझ रहे हैं। पैनी दर्रातियों से गेहूँ के पौधे धड़ाधड़ धराशायी हो रहे हैं। इस कच्ची उम्र में ही पिछली पीढ़ी का संघर्ष ओढ़ना पड़ा है इन्हें। मुझे इनके इस संघर्ष में अदम्य जिजीविषा और अपराजेय आस्था के स्वर स्पष्ट सुनाई दे रहे हैं। संघर्ष, जिसे इन दोनों किशोरों ने स्वतः स्वेच्छया वरण नहीं किया था, वरन् पिता की असामायिक मृत्यु के कारण सम्पूर्ण परिवार पर छा गये संकट ने जिस तरह की परिस्थितियों को अनचाहे इनके सामने ला खड़ा किया था, उनमें जूझने के अलावा कोई विकल्प बचता भी कहाँ था ?

नखशिख पसीने से भीगें हैं दोनों भाई, माथे से बहता पसीना आँख में आता है, तो वे कमीज से पोंछ लेते हैं। पास ही मेड़ पर बैठा मैं उन श्रम-सीकरों की गंध को महसूस कर रहा हूँ और सोच रहा हूँ कि क्या यह पसीना इनके माथे की रेखाओं को कभी बदल पायेगा ? शायद नहीं, कभी नहीं। जिस तरह के प्रजातांत्रिक साम्राज्यवाद में इस अभाग्य देश का निम्न व निम्न मध्यमवर्ग अपने अस्तित्व के लिए निरन्तर जूझ रहा है और बमुश्किल अपने परिवार के लिए दो जून की रोटी का जुगाड़ करने की जुगत बैठाने में ही पूरी ज़िन्दगी खपा दे रहा है, उसमें तो यह क्रतई सम्भव नहीं है। उसके हाड़-तोड़ श्रम का लाभ ले रहे हैं गाँव के महाजन, अढ़तिया और शहर के स्टॉकिस्ट। ऐसे में ये कैसे अपना भाग्य बदल

सकते हैं ? किसी अंतर्राष्ट्रीय सर्वेक्षण में पाया गया कि भारत के करोड़ों अशिक्षित बेरोजगार मजदूरों के हाथ के अंगूठे का निशान नहीं लिया जा सकता क्योंकि काम करते-करते उनके हाथ की लकीरें ही मिट गई हैं। हथेलियाँ सपाट हो गई हैं, उन पर कोई लकीर ही शेष नहीं है, लकीरें, जो जीवन के साथ ब्रह्मा ने उनके हाथों पर रची थी। इन मजदूरों को 'मनरेगा' में काम तो दिया जा सकता है, लेकिन उनके नाम बैंक खाता खोलकर अंगूठे का निशान लेने में बैंक वाले असमर्थता जाहिर कर रहे हैं। क्योंकि अंगूठे में कोई चिह्न ही नहीं है, सिर्फ गट्टे दिखाई देते हैं पूरी हथेली पर। इन विडम्बनाओं के बावजूद भी हमारे सरकारी अर्थशास्त्री राष्ट्रीय आय में 8.5% वृद्धि दर दिखा रहे हैं, जबकि बाजार में उपभोक्ता वस्तुओं की कीमतें 18 से 20% ज्यादा हो गई हैं। यह तो मंहगाई का सरकारी आँकड़ा है। वास्तविकता यह है कि कुछ खाद्यान्न और सब्जियों की कीमतों में 50% से भी अधिक वृद्धि हुई है। सरकार का इस निरन्तर बढ़ रही मंहगाई पर कोई नियन्त्रण नहीं है, क्योंकि बड़े-बड़े व्यापारियों से चुनाव के वक्त उसने करोड़ों-अरबों चन्दे के रूप में पहले ही वसूल लिया है। इस मंहगाई की मार से न तो राजनेता बेहाल है, न तो सरकारी अधिकारी परेशान है, न ही पूँजीपतियों पर इसका कोई असर है। कराह रही है तो 20 से 40 रु. रोजाना कमाने वाली विशाल जनता। कीमतें आसमान छूती हैं तो पूँजीपतियों और उन्हीं के माध्यम से उनके कुक्कुरों (नेताओं और अफसरों) की तिजोरियाँ पहले भरती हैं। राष्ट्रीय आयवृद्धि में भी इन्हीं की हिस्सेदारी होती है। गरीबों, खेतिहर मजदूरों और समाज के निचले पायदान पर खड़े लोगों की इस वृद्धि में कोई हिस्सेदारी नहीं होती।

बड़े भाई मिन्टू ने काम रोक कर खाली बाल्टी उठा ली है। शिवाला के पीछे वाले कुएँ से पानी लेने जा रहा है। मैं उसे थोड़ा सुस्ता लेने को कहकर बाल्टी लेकर खुद पानी लाना चाहता हूँ, लेकिन वह है कि अपने बड़का बाबू से यह अदना-सी सेवा भी नहीं लेना चाहता। तीनों पानी पीकर फिर दँरातियाँ थाम लेते हैं।

साँझ घिर आयी है। ग्वालों के लड़के अपनी-अपनी भैंसों की पीठ पर लदे-फने चकरोड पकड़कर घर को लौट रहे हैं। सभी के थैलों में आम के टिकोरे भरे हैं, जिसे वे कुतरते हुए जा रहे हैं। सभी खुश है। जिन्दगी से इन्हें कोई शिकायत नहीं है, क्योंकि इससे बेहतर जिन्दगी का इनके पास कोई ख्वाब ही नहीं है। शायद ही किसी के घर टी.वी. हो। टी.वी. होती तो स्क्रीन पर सुन्दर सुडौल अभिजात्य घरों के बच्चों को देख मन में कोई ललक भी पैदा होती, हैरीपोटर के गौरांग होनहारों के जादुई कारनामों इन्हें स्तंभित-चकित किये बगैर न रहते।

कल की तरह सूरज सिवान के पश्चिमी छोर पर स्थित एक पक्के भवन के ऊपर काँप रहा है। वह भवन एक इंटर कालेज का है, जहाँ से मैंने इन्टरमीडिएट तक की शिक्षा पाई है।

कालेज को देखते ही किशोरावस्था की अनेकानेक मधु-तिक्त यादें चेतना को झकझोरने लगती हैं। गाँधी राष्ट्रीय इन्टर कालेज सदलपुरा, चन्दौली जिले (तब वाराणसी की चन्दौली एक तहसील थी) का दूसरा प्राचीनतम कालेज, जहाँ मैंने छठवीं से बारहवीं तक की शिक्षा पायी। नहरें नहीं खुदी थी। नहर की समतल पटरियाँ नहीं थी। इक्के-दुक्के के पास शादियों में मिली साइकिलें थीं भी तो साइकिल का रास्ता नहीं था। ऊबड़-खाबड़ पगडंडियाँ खेतों की ऊँची नीची मेड़ें, बीच-बीच में तीन-चार छाती-भर पानी से लबालब भरे हुये छौरे और बाहे और इन्हें फलाँगते-पार करते नित्य आठ किलोमीटर का रास्ता कैसे कट जाता, पता ही न चलता। एक दो नहीं, मुतवातिर छः वर्षों का समय हवा के पंख लगा कब फुर्र हो गया, सोचने का मौक़ा ही नहीं दिया।

जुलाई से आधे अक्टूबर तक बरसात का क्रम कमोवेश चलता रहता था। छः सात कापियों और एक-दो किताबों का छोटा सा बस्ता रहता था। बड़े जतन से प्राप्त की गई एक पन्नी में लपेट हम लोग बस्ते को तो बचा लेते, लेकिन जुलाई अगस्त के महीनों में कपड़ों को भीगने से न बचा पाते। कपड़े देह पर पड़े-पड़े भीगते भी थे और सूखते भी। कालेज के रास्ते में आम के पेड़ों के दो लखराँव (एक सीध में लगाये गये पेड़ों की लम्बी कतार) पड़ते थे। गर्मी और बरसात में रास्ता आम मारते-खाते, कबड्डी, होला-पाती, सत्तू-सरपट खेलते कट जाता था और होरहा-हाबुस भूनते-खाते, गन्ना तोड़ते-चूसते शीत ऋतु पार हो जाती थी। किशोर वय तो बस इतना जानती है कि यह होना है, तो होना है। वहाँ किसी प्रकार के ऊहापोह या संदेह के लिए स्थान नहीं है। जिंदगी का क्रीम पीरियड, मस्ती, उमंग, उछाह से लबालब भरा हुआ, जहाँ कोई 'किन्तु-परन्तु' नहीं, कोई सोच-विचार नहीं। खाँटी निश्चला। दोस्ती है तो दोस्ती, दुश्मनी है तो दुश्मनी; दुश्मनी में भी समझौते की पूरी गुंजाइश। कहीं कोई कुंठा नहीं, कहीं कोई गाँठ नहीं।

कालेज से जुड़ी यादों और यादों में संचित तमाम घटनाओं का उल्लेख यहाँ समीचीन न होगा। बावजूद इसके कुछ ऐसे दृश्य, कुछ ऐसी घटनायें, घटनाओं से नाभि-नाल जुड़ी कुछ शक्तें होती हैं, जो मनस्पटल पर पत्थर की लकीर की तरह अंकित हो जाती हैं, जो चाहे से भी नहीं मिटती। ऐसी ही एक घटना, जिसका नायक था उदयप्रताप डिग्री कालेज वाराणसी का अंग्रेज प्रधानाचार्य प्रो० लांग, हम लोगों के अंग्रेजी अध्यापक बाबू खिचड़ी सिंह ने सुनाई थी। कक्षा-6 का छात्र था मैं।

बाबू खिचड़ी सिंह, जिन्हें हम लोग खिचड़ी बाबू साहब कहते थे, उदय प्रताप कालेज से सेवा-निवृत्त होकर गाँव में रहने लगे थे और हम लोगों के कालेज के प्रधानाचार्य के विशेष अनुरोध पर जूनियर कक्षाओं को अंग्रेजी पढ़ाने को राजी हो गये थे। बाबू साहब कोर्स के अलावा खाली समय में प्रो० लांग के विद्यार्थियों के प्रति क्रूर-नृशंस आचरण के बारे में अक्सर कुछ न कुछ सुनाया करते थे। एक दिन बताने लगे कि अनुशासन के नाम पर प्रो० लांग विद्यार्थियों के साथ पशुवत् आचरण करता था। जुलाई में ही किसी दिन उसने

एक छात्र के पिता को गर्दनियाँ देकर अपने कमरे से बाहर कर दिया। उसी दिन मैदान के एक कोने में पेशाब कर रहे एक छात्र को गिराकर बूटों से रौंदा। रात में छात्रावास का निरीक्षण करते समय चार लड़कों को एक कमरे में गप्पें लड़ाते हुये देखकर केनिंग करने के इरादे से बेंत उठाया और उन्हीं में से एक तगड़े लड़के को पीट भी दिया। लड़के से यह अपमान बरदाश्त नहीं हुआ और उसने आव देखा न ताव, प्रो० लांग को उठाकर पटक दिया, और बल-भर लतियाने के बाद बेंत छीन कर फेंक दिया।

प्रो० लांग का किस्सा सुनाने के बाद बाबू साहब ने मुझसे पूछा—‘यह बताओ कि उस लड़के ने ठीक किया कि गलत ? मैंने चट जवाब दिया—‘बहुत ठीक किया।’ मेरी पीठ ठोंकते हुए उन्होंने दूसरा सवाल किया ‘बता सकते हो क्यों ठीक किया ?’

‘इसलिए कि अंग्रेज अत्याचारी थे। उन्होंने हमारे देश के बड़े-बड़े नेताओं को जेलों में बन्दकर बहुत कष्ट दिया, हमारे देश की दौलत, सोना-चाँदी लूटकर इंग्लैंड ले गये। आपने बताया था कि यू.पी. कालेज में बड़े-बड़े जमींदारों और राजाओं के लड़के पढ़ते थे। उन्हें बूटों से मारना क्या उनकी शान के खिलाफ नहीं था ? क्या यह एक भारतीय का अपमान नहीं था ?

मैंने देखा कि बाबू साहब मेरे इस जवाब को सुनकर प्रसन्न हो गये और उन्होंने तत्क्षण मुझे कक्षा-6 का मॉनीटर घोषित कर दिया।

एक दूसरी अविस्मरणीय घटना तब घटित हुई जब मैं इन्टरमीडिएट में था। पूरे कालेज में केवल दो लड़कियाँ पढ़ती थीं। एक प्रधानाचार्य की, जो कक्षा-10 में थी और दूसरी उनके चचेरे भाई की, जो मेरी कक्षा में थी। प्रधानाचार्य हम लोगों को हिन्दी पढ़ाते थे। पाठ्य-पुस्तक ‘मधुपर्क’ में प्रसाद की कामायनी का श्रद्धा सर्ग उसी दिन पढ़ाना शुरू किया था। प्रथम छंद ‘कौन तुम संसृति जलनिधि तीर तरंगों से फेंकी मणि एक/ कर रहे निर्जन का चुपचाप प्रभा की धारा से अभिषेक।’ का भावार्थ बता रहे थे। मैं दत्तचित्त होकर अपनी कापी में लिख रहा था—‘संसार-सागर के तट पर उसकी लहरों से फेंकी गई मणि के समान अपने मुखमंडल के आलोक से इस निर्जन हिम-प्रदेश को प्रकाशित करने वाले हे तपस्वी ! तुम कौन हो, तुम्हारा परिचय क्या है ?’

प्रिंसिपल साहब ने दूसरा छंद पढ़ना शुरू किया था—‘मधुर विश्रांत और एकान्त.....’ कि खिड़की के पार से मेरे कानों को एक फुसफुसाहट सुनाई पड़ी—‘दीदी ने चिट्ठी दी है, ले लीजिए’ कहते हुए प्रिंसिपल की लड़की सुशीला चिट्ठी खिड़की पर रखकर भाग गई। मेरा ध्यान बँट गया, निगाह खिड़की की तरफ चली गई। मैंने डरते-डरते अपनी एक किताब चिट्ठी के ऊपर रख दी। मेरे हिलने-डुलने को प्रिंसिपल साहब ने ताड़ लिया और मेरी बगल में बैठे हुए लड़के से कहा—‘देखो, खिड़की के बाहर कोई है क्या ?’ भगवान का लाख-लाख शुक्र कि सुशीला तुरन्त वहाँ से भागकर अपनी कक्षा में पहुँच गई थी। क्लास खत्म हुआ, मैंने पत्र अपनी हिन्दी की पुस्तक के कवर के अन्दर डाल दिया। पत्र मेरी सहपाठिनी

निर्मला का था। निर्मला बहुत सुन्दर नहीं थी लेकिन उसकी आँखें बड़ी-बड़ी थीं। वह बेहद शर्मीली थी, किसी लड़के से बात भी नहीं करती थी। बात तो मुझसे भी नहीं करती थी लेकिन कभी-कभी सुशीला से कहकर मेरे नोट्स मँगा लेती थी—अक्सर निगाहें नीची करके बैठती, लेकिन जब भी पलकें उठाती, मुझे देख लेती। उसका मुझे देखना अच्छा लगता। सोचता—कभी बात करूँ लेकिन हिम्मत न होती। आज उसका पत्र पाकर जिसमें आद्यन्त प्रणय-निवदेन था, मुझे बेहद ताज़्जुब हुआ। मैंने उस पत्र को अपने परम अभिन्न, हितैषी व अग्रज नन्दलाल पांडेय को दिखाया। उन्होंने खाप पंचायत का भय दिखाकर पत्र तुरंत अपने हाथ से फाड़ दिया और कोई उत्तर न भेजने की सलाह दी। उस समय मुझे उनका पत्र फाड़ना अच्छा नहीं लगा। प्रिंसिपल की लड़की सुशीला दसियों बार उस पत्र का जवाब माँगने आई, लेकिन मैंने हर बार टाल दिया। लेकिन निर्मला का मुझे और मेरा निर्मला को देखना जारी रहा। जिन्दगी का पहला प्रेम खाप पंचायत के काल्पनिक आतंक के आगे समर्पित हो गया, लेकिन एक मीठी याद छोड़ गया, जो आज भी गुदगुदाती, हँसाती है, तो कभी मेरी भीरुता की खिल्ली भी उड़ाती है।

उसी दिन से मैंने नन्दलाल पांडेय को गुरु कहना शुरू कर दिया। आज 'गुरु' इस दुनिया में नहीं है। सोचता हूँ कि अगर उस दिन उनकी बात नहीं मानता तो यह जिन्दगी न जाने किस घाट लगी होती। प्रिंसिपल, जिनकी भतीजी थी निर्मला, का कोप-भाजन बनता और नाम काटकर विद्यालय से निकाल दिया जाता। पिता द्वारा पढ़ाई छोड़वाकर खेती के जुये में नाथ दिया जाता और माटीगाँव को एक और 'हुल्लड़' मिल जाता, दर-दर भटकता और अपने दुखद अतीत पर आँसू बहाता हुआ। गुरु की नेक सलाह से ये दोनों 'अतियॉ' घटित नहीं हो पाईं।

पाठक सोचेंगे कि मैंने इन्हीं दो घटनाओं का उल्लेख क्यों किया ? इसके पर्याप्त कारण हैं। जहाँ पहली घटना ने एक दस साल के लड़के में अद्भुत आत्म विश्वास जगाया और कक्षा का सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थी होने का गौरव प्रदान किया, वहीं दूसरी घटना ने एक निर्भीक अलमस्त किशोर को गुरु के माध्यम से सही मार्ग-दर्शन देकर आगे पढ़ने-बढ़ने का अवसर प्रदान किया।

सूरज विद्यालय के परिपार्श्व में, विद्यालय धुँधलके में और सिवान एक नीरव, निःशब्द उदासी में डूब जाते हैं। दोनों किशोर न तो इस प्रकाश-पटाक्षेप से प्रभावित हैं और न ही घिर आये अंधेरे से। उनके हाथ और हाथों की दँरातियाँ यथावत् चल रही हैं, सतत-निर्विराम। पसीने से तरबतर उनकी- कमीजें एक बँधे बोझ के ऊपर सूख रही हैं। सोचता हूँ—चार सालों में इस धरती ने इन किशोरों का ढेर-सारा पसीना सोखा, इन्हीं खेतों में खटते-मरते सूरज की लपटों को अपने खून का अर्घ्य देते इन्होंने अपनी खेलने-पढ़ने की उम्र के बहुमूल्य चार-पाँच वर्ष काट दिये, लेकिन न तो यह धरती उर्वर हुई और न ही इनके जीवन की अँधेरी रातों में कभी अरुणोदय हुआ।

कहते हैं कि खून-पसीना ही किसी भव्य समाज के निर्माण का आधार होता है। इस आधारभूमि को त्याग कर किसी सुन्दर समाज की संरचना की ही नहीं जा सकती।

हमारे देश की अस्सी-पच्चासी फीसदी आबादी आजादी के बाद से ही बहा तो रही है खून-पसीना, लेकिन इन 65 सालों में हमारे रहनुमाओं ने कैसा भव्य समाज बनाया है ? कहने की आवश्यकता नहीं। सोने की इस चिड़िया का सोना तो अंग्रेज लुटेरे लूट ले गये लेकिन आज हमारे कुरसीपरस्त मुल्कफरोश तुच्चे राजनेताओं ने इसके पंख, टाँगे, सिर— सब कुछ नोच डाला है। आज इस मरणासन्न मुल्क के पास न अपनी कोई भाषा है, न पहनावा है, न आचरण है, न तहजीब है, न संस्कृति है और न ही अपना, अपनों के लिए लोकधर्मी साहित्य है। जो कुछ है वह गंगा-कावेरी नहीं, मिसौरी, मिसीसिपी, थेम्स के रंग में रंगा हुआ। मात्र दस प्रतिशत की सुख-समृद्धि के लिए इस देश के नब्बे प्रतिशत लोग रात दिन खून पसीना बहा रहे हैं। 'वे' नित्य मोटे हो रहे हैं अरबपति से खरबपति बन रहे हैं, 'ये' विचारे भीषण मँहगाई की मार झेलते हुए, 20 से 30 रुपये रोजाना पर जीवन बसर करते हुए आधी उम्र में ही श्मशान पहुँच जा रहे हैं। यही तो है हमारे खून-पसीने से निर्मित भव्य समाज ! हमारा भारत कहीं मूर्च्छित पड़ा है, हमारा हिंदुस्तान ऊर्ध्वशवास ले रहा है, लेकिन दस प्रतिशत धनपतियों का 'इंडिया' शाइन कर रहा है, उसकी देह-कान्ति निखर आई है। उसी इंडिया को दिखाने के लिए किसी समय पंडित नेहरू हो ची मिन्ह को दिल्ली हरयाना रोड स्थित सरकारी फार्म पर ले गये थे, जहाँ की शस्य-सम्पन्न हरी-भरी धरती को देख अतिथि का हृदय प्रसन्न होने की जगह वितृष्णा से भर उठा था। उन्होंने कहा—'मुझे वह हिन्दुस्तान दिखाइये जो गाँवों में बसता है', जहाँ सड़के नहीं, पगडंडियाँ हैं, जहाँ सरकारी ट्यूब वेल-नहरें नहीं हैं, किसान पपीहे की तरह मेघ का मुँह ताकते हैं। मेघों ने कृपा कर दी तो मुँह की रोटी नसीब हुई, नहीं की तो खानाबदोश बनकर यहाँ-वहाँ भटका किये। भय, भ्रष्टाचार, भूख की पंकिल त्रिवेणी में बिलबिलाते चीखते हमारे भारत में नक्सलवाद, माओवाद, आतंकवाद सभी आबाद हैं, निर्वासित है तो बस समाजवाद। गीतकार उमाकान्त मालवीय के गीत की ये पंक्तियाँ, जो उन्होंने चालीस साल पहले लिखी थीं, आज और प्रासंगिक हो गई हैं—

*'थोड़े से लोगों की जायदाद देश है
थोड़े से लोगों का राष्ट्र है
भारत के माने हैं केवल कौरव-सभा
बहुमत का मतलब धृतराष्ट्र है।'*

जब तक राजनीति की इस कौरव-सभा का और उसके सिरमौर धृतराष्ट्रों का आमूल-चूल उच्छेद नहीं होगा, समाज में इसी तरह (गुंडों माफियाओं का) आतंकवाद रहेगा, सियासत में वंशवाद रहेगा और साहित्य में (प्रगति के नाम पर) भोगवाद-कलावाद रहेगा और समाजवाद सदा-सदा के लिए एक दिवास्वप्न ही बना रहेगा।

आज जब ज़ेडप्लस की सुदृढ़-सुविधा से लैस बुलेटप्रूफ वाहनों में चलने वाले चूजा दिल नेताओं को देखता हूँ तो जबान का स्वाद कसैला हो जाता है, जी में आता है कि अगर ये कहीं मिल जायें तो थूक दूँ इनके मुँह पर। भले इसके लिए मुझे दंडित ही क्यों न किया जाये। गमलों में उगे हुये इन कटे-छँटे 'बोनसाइयों' को देखकर ध्यान अतीत में चला जाता है। याद आने लगते हैं विशालवट-वृक्ष की तरह छतनार 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का महाउद्घोष करने वाले, जेल के सीकचों में गीता रहस्य जैसे अप्रतिम ग्रन्थ के प्रणेता, महान चिन्तक बालगंगाधर तिलक, याद आने लगते हैं अमरीका जैसे वैभवसम्पन्न देश में रहकर भी अपने हाथ से खाना बनाने वाले, फटे कोट पहनकर शीत काट देने वाले, 'इंडिया होम रूल' के संस्थापक परम त्यागी मनीषी लाला लाजपतराय, याद आने लगते हैं मानवीय मूल्यों के लिए जीने-खपने वाले, अपने सिद्धान्तों की रक्षा हेतु कांग्रेस के राष्ट्रपति (अध्यक्ष) पद को तिनके के समान त्याग देने वाले बज्र-अस्थि राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन, याद आने लगते हैं पाकिस्तानी हुक्मरानों की क्रूरता-बर्बरता का मुँहतोड़ जवाब दे उनका मुँह बन्द कर देने वाले लौह पुरुष सरदार पटेल, याद आता है असहयोग-अहिंसा के अमोघ-अस्त्र से आततायी अंग्रेजी हुकूमत को घुटने टेकने को विवश कर देने वाला निहत्था फकीर गाँधी, याद आते हैं 'सरफरोशी की तमन्ना लिए मात्र 23-24 की कच्ची उम्र में ही अपने प्यारे देश के लिए हँसते हुये फाँसी के फन्दों को चूमते गाते भगत सिंह, खुदीराम बोस, राम प्रसाद 'बिस्मिल' और उन्हीं की तरह असंख्य दीवाने, याद आता है आज़ाद हिन्द सेना का सेनानायक, छात्र जीवन में भारतमाता के खिलाफ अपशब्द का प्रयोग करने पर अंग्रेज अध्यापक को पीटने वाला स्वाभिमानी देशभक्त सुभाषचन्द्र बोस।

हमारे इन मनस्वी राष्ट्रभक्तों ने अपने सदाचरण से जिन शाश्वत नैतिक मूल्यों, मानदण्डों एवं आदर्शों की स्थापना की थी, क्या आज उनकी कोई प्रासंगिकता नहीं रह गई है ? क्या राजनीति महज गुंडों, माफियाओं, भ्रष्टाचारियों, दुराचारियों की सैरगाह है, जहाँ सब कुछ करने की छूट है, जहाँ पहुँच कर ये कलमुँहे, दूध के धोये हो जाते हैं ? यदि नहीं, तो हमारे देश के बुद्धिजीवियों, सच्चे राष्ट्रभक्तों एवं चिन्तकों को नये सिरे से इस नैतिक एवं चारित्रिक स्खलन पर विचार करना होगा और राजनीति को इस कर्दम से निकाल कर रामराज्य (जिसका सपना बापू ने देखा था) के सदादर्शों से मंडित करना होगा। मेरा यह अटल विश्वास है कि वह दिन बहुत दूर नहीं, जब सबकी खैर माँगने वाला कोई कबीर हमारे बीच से उठेगा और जलती लुकाठी लेकर अश्वेत कर्म में लिप्त श्वेतपोशों के पूरे डेरे को फूँक-ताप कर नव-निर्माण की आधारशिला रखेगा और मँहगाई, भ्रष्टाचार और खुलेआम लूट से त्रस्त-पस्त लोगों की एक भारी जमात उसके पीछे होगी। हो सकता है यथास्थितिवादियों और छद्म प्रगतिशीलों को मेरी यह सोच रोमानी लगे और वे इसे ख्याली पुलाव मान बैठें। हारी हुयी नकारात्मक मानसिकता वालों से आखिर, उम्मीद भी क्या की जा सकती है ?

आज शायद शनिवार है, अभी मुझे नहा धोकर मंदिर जाना है— ऐसा सोचकर टार्च और छोटी लाठी लेकर घर के लिए रवाना हो जाता हूँ। ऊँचे-खाले डाँड़ों को पारकर चकरोड पर आता हूँ। थोड़ा आगे बढ़ते ही दृष्टि आकाश के दक्षिणी पश्चिमी कोण में हँसिया की धार या किसी नवोद्गा की क्षीण मृदु मुस्कान की तरह छाये हुये द्वितीया के चन्द्रमा की ओर चली जाती है। उसे देखते ही प्रणामांजलि स्वतः उठ जाती है। दूज का चाँद-क्षीण निष्प्रभ, कान्तिहीन, नगण्य। न चेहरे पर कोई तेज, न ही रूपाकृति में कोई लावण्य, कोई लुनाई, कोई आकर्षण। किसी तरुणी के अलक्तक रंजित अंगूठे के कटे नाखून-सा त्याज्य, तो भी भूत-भावन भगवान शिव के भाल पर पूरी ठसक के साथ बिराजता हुआ और इसी के चलते प्रलयंकर शंकर शशिशेखर, चन्द्रमौलि, चन्द्रशेखर, शशाङ्कशेखर, चन्द्रभाल बनकर गौरवान्वित हुये। इस क्षीणकाय को माथ पर धरते ही उनके तृतीय नेत्र से निरन्तर प्रवाहित अग्नि की ज्वालाओं का शमन हुआ और वे शिव बन गये, भोले अवढर दानी।

‘डेढ़ जानि संका सब काहू। बक्र चन्द्रमहि ग्रसहिं न राहू’ गोस्वामी जी ने तो इसके टेढ़े-मेढ़े स्वरूप को राहु जैसे दुष्ट ग्रह के लिए भी त्याज्य बना दिया, किन्तु महादेव ने तो सिर माथे ले इस लघुतम को भी महत्तम बना दिया, उन्हीं की तरह यह वक्र-क्षीण चन्द्र भी हमारे लिये पूज्य हो गया, स्तुत्य हो गया।

प्रत्येक शनिवार और मंगलवार को महावीर हनुमान को दीप-दान करना मेरी चर्या का अंग बन चुका है, चाहे यहाँ रहूँ या इलाहाबाद। इसके पीछे न तो श्री-समृद्धि की वांछा है, न ही शक्ति-सम्पन्न बनने की कामना। कोई ऐसा संकट भी नहीं है, जिसके निवारणार्थ ऐसा करता हूँ। मारुत-सुत हनुमान के व्यक्तित्व में मुझे उस परोपकारी सन्त का दर्शन होता है, जो विश्व में किसी के लिए भी अनुकरणीय है। हनुमान की उपासना मनुष्यत्व की, इंसानियत की उपासना है, हनुमान की उपासना उस शक्ति-सामर्थ्य-पुंज की उपासना है जो किसी हैवानियत, किसी बर्बरता-क्रूरता को पराभूत करने को अहर्निश तत्पर रहता है, हनुमान की उपासना ब्रह्मचर्य-तेज-मंडित वीरत्व की, शौर्य की, पराक्रम की उपासना है, अहर्निश एक प्राणायाम है, प्राणों का प्राणों में तर्पण है, दानवता किंवा पाशविकता का दिव्यता में, अलौकिकता में रूपान्तरण है, सम्पूर्ण मनुष्यत्व की ओर आरोहण है। हनुमान उपासनस्थ हैं तो भय, भीति, संशय, संदोह, द्वन्द्व, ऊहा, असमंजस अपने आप पलायन कर जायेंगे।

हनुमान हैं तो राम हैं, सीता हैं, लक्ष्मण हैं, भरत हैं। हनुमान हैं तो रामकथा है। हनुमान का होना ही रामायण की सम्पूर्णता है। हनुमान न होते तो क्या होता रामकथा का ? कैसे पूरी होती रामलीला ? कैसे करते तुलसी अपनी राम कहानी पूरी ? ‘निसिचरहीन करौं महिं’ राम का यह प्रण कैसे होता पूरा ?

वस्तुतः देखा जाये तो राम-कथा-काया के प्राणतत्त्व हैं हनुमान। बिना इनके यह काया निर्जीव है। नीलाकाश तत्त्व हैं नील सरोरुह, नीलमणि, नील नीरधर राम, क्षिति तत्त्व हैं क्षिति-तनया जानकी, अग्नि तत्त्व हैं तपश्चर्या के साक्षात् विग्रह भरत और जल तत्त्व हैं

भूमंडल को शीश पर धारण करने वाले शेषावतार लक्ष्मण। 'अतुलित बलधाम, ज्ञानिनामग्रगण्य, वायु-पुत्र हनुमान ही प्राणतत्त्व हैं, वायु-तत्त्व हैं, जो इन चारों तत्त्वों के प्राण-प्रदाता, संचालनकर्ता हैं। बिना हनुमान के क्षिति, जल, पावक और गगन निर्जीव हैं, निष्प्राण हैं।

रामकथा में हनुमान प्रथम बार किष्किंधा में दर्शन देते हैं। प्रिया-वियोग में दग्ध-विकल राम की वानरराज से मित्रता कराते हैं और अपने राजा का आदेश मान दुर्लब्ध सागर पार कर राम-वियोग-व्यथिता सीता का पता लगा उन्हें राम की मुद्रिका प्रदान कर जीवन-दान देते हैं। जानकी अनुगृहीत होती हैं—

'बूड़त विरह-जलधि हनुमाना। भयउ तात मों कहुँ जलजाना।

डूबते को तिनके का सहारा बहुत होता है लेकिन यहाँ तो मरणासन्न जानकी के लिए हनुमान जलयान बन जाते हैं, शुष्क पियराई लतिका को सींच कर हरा-भरा कर देते हैं। इधर सीता की चूड़ामणि लाकर राम को देते हैं।

'हा खग, हा मग मधुकर श्रेणी। तुम देखी सीता मृगनयनी॥'

जड़-चेतन-संज्ञान-शून्य राम पशु-पक्षियों तक से अपनी प्राण-प्रिया का पता पूछ रहे हैं। प्रलाप कर रहे हैं। उन्हें सीता की चूड़ामणि क्या मिलती है, जैसे संजीवनी प्राप्त हो जाती है, उनके कंठगत प्राण हरिया उठते हैं। अश्रु-पूरित नेत्र परम कृतज्ञता-भाव से छलछला आते हैं। रोम-रोम आभार-ज्ञापन के लिए अकुला उठता है—

'रे कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुरनर मुनि तनुधारी॥

प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥

रे सुत तोहि उरिन मैं नाही। देखेउँ करि विचार मन माँही॥'

इतना कहने मात्र से तृप्ति नहीं मिलती। तब हर्षातिरेक में हनुमान को भुजाओं में भरकर भेंटने लगते हैं—'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा।'

जल तत्त्व शेषावतार लक्ष्मण का दारुण पराक्रमी इन्द्रजित मेघनाद से भीषण युद्ध चल रहा है। उभय पक्ष से बाण आग उगल रहे हैं। कोई पराभूत होने का नाम नहीं ले रहा है। शाम उतर आती है। युद्ध बन्द होने का समय हो चला है। मेघनाद को, रावण को दिया गया वचन याद हो आता है। वह माँ निकुंभला से प्राप्त शक्ति-सायक का संधान कर देता है। लक्ष्मण मूर्च्छित हो जाते हैं। युद्ध रुक जाता है। रात बीतने लगती है, चेतना नहीं लौटती। राम अपने प्राण-प्रिय लक्ष्मण को—जिसने 'नींद, नारी, भोजन' का परित्याग कर अहर्निश अपने आराध्य अग्रज की सेवा की थी—गोद में लिये रोने लगते हैं, अपने पौरुष, अपने पराक्रम को धिक्कारने लगते हैं। आत्म-प्रतारणा से शरीर शिथिल हो जाता है। चिर-मूर्च्छा नहीं टूटती। राम के अश्रुपूरित नेत्रों से जलधार-सी उमड़ पड़ती है। रुंधे कंठ से बमुश्किल वाणी फूटती है—

'जैहउँ अवध कवन मुँह लाई। नारि-हेतु प्रिय बंधु गँवाई।'

लेकिन नहीं, जब तक हनुमान हैं, राम को अपना प्राणप्रिय बन्धु गँवाना नहीं पड़ेगा। विभीषण की मन्त्रणा पर हनुमान गृहसमेत सुखेन को ले आते हैं। और रातों-रात हजारों योजन की दूरी तय कर सुखेन की बताई संजीवनी सशैल उठा लाते हैं। सटीक उपचार मिलता है, लक्ष्मण की चेतना लौट आती है। रामादल हर्ष-विभोर हो उठता है। राम एक बार फिर हनुमान के कृतज्ञ हो जाते हैं।

यह हनुमान ही हैं जिन्होंने अग्नि-तत्व भरत के प्राणों की भी रक्षा की। भरत अपने आराध्य श्रीराम की पादुका अयोध्या के राज सिंहासन पर स्थापित कर नन्दी ग्राम में तपस्या कर रहे हैं। राम-वनवास की अवधि बीतने वाली है। राम-रावण के भीषण-युद्ध और लक्ष्मण-मूर्च्छा का दुखद समाचार हनुमान उन्हें पहले ही दे चुके हैं। मन भीषण चिन्ताओं, दारुण-आशंकाओं से डूबा, ग्लानि से गलता, आत्मा को धिक्कारता, प्रताड़ित करता अंत में आत्मदाह का निर्णय ले लेता है—

‘बीते अवधि रहिं जो प्राना। अवध कवन जग मोहिं समाना’

वे अधम काया को जलाने की तैयारी कर लेते हैं, तभी विप्र वेष में आकर हनुमान, लक्ष्मण-जानकी समेत श्री राम के शुभागमन की सूचना देते हैं। आत्म-दाह को प्रस्तुत भरत को जीवन-दान मिल जाता है—

‘राम विरह सागर मँह, भरत मगन मन होता।

विप्र रूप धरि पवन सुत, आइ गयउ जनु पोता।।’

रामकथा के प्राण हनुमान की उपासना से मुझे अपार शक्ति मिलती है, मनोवृत्तियाँ निर्विकार हो जाती हैं, अभाव में भी एक अटूट आस्था-भाव सतत बना रहता है, और कोई भी कार्य असम्भव नहीं लगता। गत वर्ष पत्नी के भीषण-हृदयाघात (हार्ट अटैक) के समय इसका अनुभव मुझे स्वयं हो चुका है। साहित्य के ‘मुद्राराक्षसों’, ‘विश्वनाथों’ और इनके कलमकार चमचों की छिद्रान्वेषिणी मनीषा पर सिर्फ तरस ही खाई जा सकती है। ये विचारे हमारे आर्ष ग्रन्थों के छिद्र ढूँढ़ने में ही आधी उमर खपा चुके हैं। ईश्वर इन्हें सदबुद्धि दे !

मन्दिर से लौट खाना खाता हूँ और गिलास का दूध लेकर दरवाजे पर आ जाता हूँ। चारपाई पर बिस्तर डाल मच्छरदानी तानकर आदतन टहलना शुरू करता हूँ। श्रम से बोझिल देह आना-कानी करने लगती है, आँखें चलते-चलते झपकने लगती हैं। शीघ्र दूध पीकर बिस्तर पर पसर जाता हूँ। दिन के ताप का रात की शीतल पुरवाई पर कोई असर नहीं है। नींद लगी तो भोर में ही खुल पाई।



14 अप्रैल, 2012 – शनिवार

बिस्तर लपेट कर बैठक में चौकी पर डालता हूँ और मच्छरदानी लपेट एक कोने में खड़ी कर देता हूँ। पक्का का चैनल गेट खोलने के लिए पत्नी को आवाज़ लगाता हूँ। वे अस्वस्थ हैं, खिड़की से चाभी थमा देती हैं। आज रात वे सो नहीं पाई हैं। घबराहट है और सीने में दर्द भी। मैं दवा का डिब्बा खोल आइसोर्डिल की एक टिकिया उनको जबान के नीचे रखने को देकर पानी पी नित्य कर्म से निवृत्त हो लेता हूँ, यह सोचकर कि यदि इनकी तबियत में सुधार नहीं हुआ तो मुगलसराय या वाराणसी ले चलने की व्यवस्था करनी होगी। अलका छत पर सो रही है, उसे जगाकर पत्नी के पास बैठाकर महेश मास्टर की टैक्सी सहेजने चला जाता हूँ। वैसे गाँव में इन दिनों दर्जन-भर टेम्पो और तीन-चार टैक्सियाँ किराये पर चल रही हैं, लेकिन अकेले महेश सिंह ही ऐसे हैं, जिन पर भरोसा किया जा सकता है। वे राजकीय इन्टर कालेज, रामनगर में प्रवक्ता हैं और पूरे गाँव के गिने-चुने भद्र लोगों में से एक हैं। सदैव परोपकार के लिए तत्पर, दरवाजे जाने पर बिना चाय पिलाये लौटने न देना, जरूरत का कोई सामान या दवा आदि सहेज देने पर ला देना, पैसे लेने में संकोच करना। मेरे ऊपर तो इनके इतने एहसान हैं कि मैं इन्हें इस जन्म में शायद ही उतार पाऊँ।

मेरी दोनों छोटी बेटियों की शादी के लिए वर-खोजाई में ये अपने सारे जरूरी काम स्थगित कर मेरे साथ बीसों जगह गये। इसके लिए इन्होंने अपनी सारी छुट्टियाँ होम कर दीं। प्रधानाचार्य के इतने विश्वासपात्र हैं कि इन्हें छुट्टी लेने के लिए कभी झूठा बहाना नहीं करना पड़ा। कभी-कभी तो मैं इलाहाबाद से छुट्टी लेकर सीधे इनके कालेज पहुँचता था और वे गाँव के ही एक दूसरे अध्यापक से अपने घर सूचित कर देने को कहकर वहीं से मेरे साथ वर ढूँढ़ने चल देते थे। मातृभक्त इतने कि मेरे साथ बाहर चलने के पूर्व ये अपनी बीमार वृद्धा माँ की सारी दवायें खरीदकर रख जाते और पत्नी को सहेज देते। बड़े भाई टिहरी बाँध परियोजना में सहायक अभियन्ता थे, लेकिन माँ की दवा या घरेलू खर्च के लिए उनसे कभी एक पैसे नहीं लिया। इकलौता लड़का संजय एम.एस.सी. बी.एड. करके बेकार बैठा था। कहीं नौकरी नहीं मिली। इन्होंने उसके कहने पर एक गाड़ी बैंक से लोन लेकर खरीद दी।

तो मैं इसी महेश मास्टर को सहेज कर घर वापस आ जाता हूँ। पत्नी कमरे में नहीं है, आँगन में देखता हूँ, वहाँ भी नहीं। अलका को उनके पास बैठा कर गया था, वह भी नहीं थी। सोचा, शायद अलका को साथ ले लैट्रिन गई होगी। जी नहीं माना, दरवाजे के

एक कोने में बनी लैट्रिन की तरफ गया, वहाँ भी नहीं थी। मुझे थोड़ी चिन्ता हुई। पुनः पक्का में वापस आया। इसी बीच अलका ने आकर बताया— आजी - रसोई में जमीन पर लेटी हैं और मना किया है कि कोई उन्हें बुलावे नहीं। दिल की मरीज़, कुछ पूछने जाऊँगा तो आराम में खलल पड़ेगा ऐसा सोचकर कमरे में लेटकर प्रतीक्षा करने लगा। खेत पर जाने का कार्यक्रम स्थगित करना पड़ा।

‘आजी, किचेन में सोई हुयी हैं, वहाँ चाय बनाना सम्भव नहीं है’—ऐसा सोच अलका अपने घर से चाय बनाकर ले आती है। चाय पीने के बाद एक पत्रिका उलटने-पलटने लगता हूँ, लेकिन मन उधर ही अटका हुआ है। 8 बजे के लगभग पत्नी उठती हैं। अलका उन्हें ब्रश मंजन थमा कर उनके लिए चाय बनाने लगती है। मैं उनकी तबियत का हाल पूछने लगा, तभी महेश मास्टर का ड्राइवर आता है और मुगलसराय चलने को कहता है। पत्नी मना कर देती हैं। मुझे अफसोस होता है कि अब तक मास्टर की गाड़ी सवारियाँ लाद मुगलसराय पहुँची होती, मेरे लिये ड्राइवर को इन्तज़ार करना पड़ा। मैं उसके घाटे की भरपाई के रूप में कुछ रुपये उसे देना चाहता हूँ। वह मना कर देता है, कहता है, ‘आपसे पैसे ले लूँगा तो मास्टर साहब मुझे डाटकर भगा देंगे। कल से मेरी रोज़ी भी छिन जायेगी।’

मैं दोनों बाल्टियाँ लेकर चार बाल्टी पानी आँगन में रखकर पत्नी से पूछकर खेत पर चल देता हूँ। शिवाला के दक्षिण नहर की पटरी से थोड़ा आगे बढ़ता हूँ तो वहाँ से बमुश्किल सौ मीटर पश्चिम ‘सास-पतोह वाले चौतरा’ पर लगभग एक सौ आदमियों की भीड़ दिखाई देती है। वहीं बकरी चरा रहे अपने दूसरे बटाईदार निठोहर से पूछता हूँ—‘काम-धाम के दिन में इतनी भीड़ वहाँ क्या कर रही है ?’

‘आप एतना दिन से गाँवे आवत-जात हउवा, ईहो नाहीं जनला। ऊहाँ रामदेव भगत क ओझाई क दुकान खुलल हेव’— निठोहर व्यंग करते हुये भोजपुरी में उत्तर देते हैं।

‘तो आज वहाँ कैसा मेला लगा है ?’ पूछता हूँ।

कौनो बराहीपुर के चमाइन, साइत छट्टू बो के नहरी पर कै दइतरा (दैत्य) पकड़ले हउवै। ऊहै आइल हेव ओझाई करावै। ओकरे घरवाले ओके बान्ह के ले अइलँ हँ बिहनहीं। अउर कुल त तमासबीन जुटल हउवै। मन होय देख आवा।’

निठोहर की बात सुनकर मुझे भी थोड़ी उत्सुकता होती है। देखने की गरज़ से वहाँ चला जाता हूँ। निठोहर को भी साथ ले लेता हूँ। तमाशबीनों की भीड़ में रास्ता बनाकर आगे जाना मुश्किल लग रहा था। ज़्यादातर लड़के मेरे पड़ोस वाली अहिरान के हैं, वे मुझे चीन्हते हैं और देखते ही आगे जाने की जगह बना देते हैं। देखता हूँ कि रामदेव और उसका गुरुभाई रामजी- दोनों वज्रासन में बैठे हैं। दोनों ओझड़तों के चेले एक साँवली नवयुवती को पकड़े हुए हैं। वह रह-रहकर उन्हें झटक कर परे कर देती है। दर्शकों में से आवाज़ आती है- ‘बहुत बड़ियार (ताकतवर) भूत धइले हौ एके। मन मनाय देई ओझड़तन का।’

‘हम्मै त अइसन लगत हव कि एके कवनो जिन्न पकड़ले हव। जिन्न छट्टी क दूध याद कराय देई।’ — एक दूसरा लड़का किसी तज़ुबेकार की तरह अपनी बात रखता है।

‘हँ यार, हमहूँ के अइसनै बुझात हव। साई के तकिया में लकड़ी बीनत क कवनो कब्बुर (कब्र) पर चढ़ गइल हे, अ ओही क जिन्न पकड़ लेले हव।’ एक तीसरा लड़का अपने साथी की बात की तारीफ़ करता है।

जिन्न होई त रामदेव भगत ओकर कुछ न बिगाड़ पड़हैं। बिना पीर-फकीर के अइले ई कब्बौ ना जाई।’ चौथा लड़का बुजुर्ग की तरह अपनी बात रखता है।

रामदेव भगत उसकी बात सुन लेते हैं और उसे वहाँ से हटाने के लिए अपने एक चेले को निर्देश देते हैं।

दर्शकों के मध्य में 5 फुट की आयताकार जगह छूटी है जिसमें आँटे से घेर कर चौक पूरा गया है। आयत के बीच में सिंदूर, सिक्के, कच्ची रस्सी, नींबू, चाकू, कलश में जल, अक्षत आम के पल्लव, चुनरी आदि कई चीजें रक्खी हुई हैं।

‘इन दोनों को बरबाद करके छोड़ूँगा रे बरबाद करके छोड़ूँगा। भगत बने हैं ससुरे लुच्चा। आज दोनों को थूककर न चटवाया तो कहना’ कहते हुये वह नवयुवती झूमने लगी। सिर से साड़ी हट गई और उसके खुले बाल वृत्ताकार लहराने लगे। हर वाक्य के बीच में ‘अँहुं’ करके लगी खेलने। धीरे-धीरे वह पसीने से लथपथ हो गई।

रामदेव ने चक्कर पूजकर उसे बाँध दिया और लगे मन्त्र पढ़ने—

दोहाई गौरा पारबती, ईसर महादेव, दोहाई कमच्छा देई।

सत से जो बेसत जाय त अंग-अंग फूटै बहराय।

दोहाई बरम बाबा !, दोहाई नटवा बीर, दोहाई सहीत (शहीद) बाबा’

धरती फाटै मेघ जल, कपड़ा फाटै डोरा।

तन फाटै कै औखदी, मन फाटै ना ठौर।।

जय काली कमच्छा वाली।

इतना बोल चुकने के बाद रामदेव भगत बुदबुदाने लगे। रामजी भगत उस युवती पर पल्लव से जल छिड़कने लगे। रामदेव का एक चेला पचरा गाने लगा और दूसरा ढोलक पर थाप देने लगा। युवती फिर झूमने लगी। एक बार फिर बालों के वृत्त बनने लगे। दोनों हाथों को जमीन पर टिकाये वह झूमती जा रही थी और मुँह से अँहुं, अँहुं, करती जा रही थी। आयताकार घेरे में जल रही आम की गीली लकड़ियों का धुवाँ युवती की आँख में जा रहा था और वह और तेजी से चक्कर लगाने लगी। दस मिनट तक बुदबुदाते रहे रामदेव भगत। फिर जोर से चिल्लाये—

‘बोल कवन हउवे तूँ ? भूत-बैताल, चुरइल-चंडाल, दइत-परेत, जिन्न-बरमा। बोल जल्दी- ई औरत जात से कवन अइसन टूटी (त्रुटि) भइल, जवन एकर पाछ नाहीं छोड़त

हउवे।' इतना बोलकर रामदेव ने जोर से एक धौल उस युवती की पीठ पर धर दिया। वह थकी-माँदी तो थी ही, पीठ पर घूसा पड़ते ही वहीं मूर्च्छित होकर पसर गई। साथ में आई हुई औरतें, जो हाथ जोड़े बैठी थी, कभी उस युवती को तो कभी रामदेव भगत को अचरज भरी निगाहों से देखने लगीं। चले चिल्लाये—'भगत जी परेत के बस में कय लेहलै। अब ए मेहरारू के तबेत चंगा हो गइल।' और उसके सिर पर गगरी का जल लगे गिराने। थोड़ी देर में उसे होश आ गया। साथ की औरतों ने उसके बालों को पोंछ कर जूड़ा बाँध दिया और साड़ी का पल्लू सिर पर डाल उसे घर लिवा ले गई।

ढाई घंटे से अधिक चले इस नाटक का पटाक्षेप हो गया। छट्टू बो चमाइन का भूत-प्रेत, चुड़ैल-चांडाल, बरम-जिन्न-सभी रामदेव भगत के एक घूसे से धराशायी हो गये। उन्हें फिर होश नहीं आया। इधर उन्हीं भूतों की कोप-भाजन छट्टू बो, जो बेहोश पड़ी थी, उठकर घर चली गई। छट्टू के घर की खुशी लौट आयी थी, क्योंकि मेहरारू, बहुत पौरुखी थी। दो आदमी का काम अकेले करती थी। उसी के बलबूते पर छट्टू ने बैकुंठ उर्फ डेभा तिवारी के छः बीघे की खेती अधिया ली हुई थी। डेभा तिवारी बड़े रसिया थे। अपने को साठा का पाठा कहते थे। इस उम्र में भी वे छट्टू बो को पुत्रवती होने का सुअवसर देना चाहते थे किंतु छट्टू बो ने उन्हें घास ही नहीं डाली। छट्टू साँस का मरीज था, थोड़ा भी मेहनत का काम करता था तो उसे हँफरी छूटने लगती थी। छट्टू बो एक भैंस का कोयर-काँटा करती, उसे दुहकर दूध दुधहा को नापती, खाना बनाती, गोबर फुर्सत के क्षणों में पाथने को समेटती और पति और सास के लिए रोटी-पानी लेकर सुबह छः, साढ़े छः बजे तक कटिया करने पहुँच जाती। सच पूछिये तो उसी के कारण परिवार की आजीविका चलती थी और दवा-दारू, सूखा-बूड़ा के लिए दस-पाँच हजार जमा भी हो जाते थे। छट्टू बीबी के छरा जाने से एक नई मुसीबत में फँस गया था। वह खुश था कि रामदेव भगत ने उसकी कमासुत घरैतिन का दुःख-दरद दूर कर दिया। अब उसे एक-दो दिन में रामदेव भगत की ओझाई का मूल्य 2 बोतल दारू, 2 मुर्गा और 2000 रुपये देकर चुकाना था। इतना न देगा तो पुनः दइतरा बाबा उसकी मेहरारू को पकड़ कर परेशान करेंगे। मरता क्या न करता। मर-जीकर छट्टू ने रामदेव भगत की शर्तें पूरी की। चैत और अगहन के महीने में कोई, किसान या खेतिहर मजदूर यह कभी नहीं चाहता कि उसके घर का कोई कर्ता-धर्ता बीमार पड़े। गुजरात, मुम्बई में छोटी-मोटी नौकरी करने वाले वाले लड़के भी फसलों की कटाई-मड़ाई में माँ-बाप की मदद करने के लिए दो-तीन महीनों की छुट्टी लेकर गाँव आ जाते हैं।

छट्टू बो को कोई सन्तान नहीं थी, जब कि गवना हुये चार साल हो चुके थे। जब से उसकी कलमुँही पड़ोसिन खरपतिया ने उसे बाँझिन कहा था, उसका यह दुःख दूना-चौगुना होकर उसे निरन्तर सालता रहता। यह जानते हुए भी कि उसका मरद कमज़ोर है और उससे बंस-बरखा होने की कोई उम्मीद नहीं है, उसने अभी तक लोक-लाज के मारे पत-पानी बचा रखा था। अब उसे किसी भी कीमत पर बच्चा चाहिए था। रामदेव भगत का गाँव से दूर बना एकान्त कमरा उसने देख लिया था। रात में जब भी उसे (काम का) भूत तंग करता

वह सीधे भगत के यहाँ आ जाती। एक दिन छट्टू के गाँव के दो युवकों ने रामदेव भगत को रँगो हाथ पकड़ लिया, और उन्हें चार-छः लाठी पीटा भी। भगत हल्दी-दूध पीकर चंगे हो गये।

भगत और छट्टू बो की दास्तान बयाँ करते हुए निठोहर ने कहा—‘भइया, जब आप अगिली बेर अइबा, त छट्टुवा लइका खेलावत मिली।’

मेरे मन में रामदेव और रामजी भगत के लिए थोड़ा बहुत आदर-भाव था। आज वह इनके घृणित आचरण को देख-सुन कर घृणा में बदल गया। दोनों यादव, दोनों के कपड़े बगुले के पंख की तरह एकदम उज्जर कि कोई दाग ढूँढ़े भी न मिले। जब भी मुझसे मिले दोनों, बड़े अदब से नमस्कार किये, हाल चाल पूछे, चलता बने। अपने व्यवहार से भीतर के किसी ‘खोट’ को उजागर नहीं होने दिया।

गोस्वामी जी की चौपाई याद आ रही है—

‘नवन नीच कै अति दुखदायी। जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई।’

मुझे बीसो साल पहले की भूत-प्रेत संबन्धी एक घटना याद आ जाती है, जिसका चश्मदीद मैं भी था। मेरे गाँव के बीचोबीच भगवती का कोट है और उस पर एक छोटा-सा देवी-मंदिर है। मृगशिरा के उतरने पर देवी माँ का विधिवत् श्रृंगार किया जाता है और उन्हें चढ़ावा दिया जाता है। गाँव की स्त्रियाँ लोटे में गंगाजल फूल-फल आदि लेकर देवी-कोट में जुटती हैं। दर्शनियाँ (स्थायी पुजारी) उनके हाथ से पूजा-सामग्री और गंगाजल लेकर स्वयं देवी को चढ़ाता है। कल्पू भगत दर्शनियाँ थे और हर वर्ष वही यह पूजा सम्पन्न कराते थे। कुछ माह पूर्व उनकी मृत्यु हो गई थी। उनके न रहने पर इस कार्य को गाँव के मशहूर ‘ओझा’ ने झपट लिया था। कुछ लोगों ने इसका विरोध भी किया था, क्योंकि ओझा एक बदनाम व्यक्ति था—मत्स्य-मांस-भक्षी और दुश्चरित्र। किन्तु कल्पू भगत का सुयोग्य उत्तराधिकारी न मिल पाने के कारण लोगों ने उस ओझा को न चाहते हुये भी स्वीकार लिया था। ओझा कल्पू भगत की पूजा-पद्धति से भली-भाँति परिचित था। उसने पहले स्त्रियों द्वारा लाई गई पूजा-सामग्री और जल देवी-माँ को समर्पित की, तदनन्तर कंडे का अहरा सुलगाकर उस पर दूध से भरी गगरी चढ़ा दी और अपने एक चेला रामदेव कुम्हार को जाउर (खीर) पकाने को कहकर मंदिर के चबूतरे पर खेलने (भूत-प्रेत उतारने के लिए प्रयुक्त एक क्रिया) लगा। दसके मिनटों तक अँहुं, अँहुं- करने के बाद हाथ में अक्षत लेकर पशु-प्राणी, मौसम, बीमारी-अजारी आदि के बारे में भविष्यवाणी करता रहा और बीच-बीच में लोगों के ऊपर अक्षत छिड़कता रहा। धीरे-धीरे उसकी आवाज़ का वाल्यूम ऊँचा हो गया। औरतें हाथ जोड़े अवाक् बैठी हुई थीं। अब वह ओझा देवी का साक्षात् अवतार मान लिया गया था। तभी गाँव की सबसे उम्रदराज औरत ‘गनी ग’ आजी (हर वाक्य के अन्त में ‘गनी ग’ का तकिया कलाम लगाने के कारण उनका नाम ही ‘गनी ग’ पड़ गया था) ने पूछ दिया—‘भगवती, पार साल त सूखा से धान झुराय गयल। ए साल बरखा क कइसन जोग हौ गनी ग ?

रोहिनी बरसल होत त धान क कुछ आगम बनत। बाकित ए साल ऊहो साँस नाही लेहलस, गनी गा बताई कि पस-परानी कइसे जीहैं ?

‘बताया तो कि आधे अदरा बरखा क जोग हौ। तबै लोग बीया-बाल डाली। वइसे एह नखत में बहुत पानी नाही हौ, लेकिन असरेखा, मघा में एतना जल गिरी की लोग-बाग उबजियाय जइहैं, धान त ए साल एतना होई कि कुकुरौ भात ना पूछी।’

‘तनी बेरामी-अजारी के बारे में बताई भगवती, पस-परानी पर कौनो आफत-बीपत त ना आई ?’ बहरे सुक्खन चौधरी ने तुरन्त एक दूसरा सवाल दाग दिया।

‘अच्छा बइठ पाजी, एक नींद सूत के आवत हउवे रेवतीपुर क कथा सुनै बदै ?’ ‘भगवती’ क्रोधित हो उठी और अपने चले रामदेव कुम्हार को आदेश दिया—

‘भगत, बताव ए बहिरा के कि हम पस-परानी के कुसल-क्षेम बदे का कहली हँ।’

रामदेव ने अपनी भगवती स्वरूप गुरु का आदेश मान उनकी भविष्यवाणी दुहरा दी, लेकिन बज्र बहरे सुक्खन चौधरी के कानों ने सुनने से इनकार कर दिया। बगल में बैठे सच्चन कोइरी ने इशारे से थोड़ा बहुत समझा कर उन्हें बोलने से मना कर दिया।

अहरा पर रखी हुई गगरी की खीर पक रही थी, रामदेव उसे हरे बाँस की कइन से चलाता जा रहा था। लगभग तीन घंटों से चल रहे इस नाटक का अन्तिम दृश्य-भगवती के हाथ से गरम खीर का वितरण-शेष रह गया था। भगवती के मुँह से बोलने वाला ओझा गगरी की खीर में हाथ डालने से कतराने लगा। उसने अपने चले रामदेव को आदेश दिया—

‘खीर-परसाद, बाँट दे रे भगतवा।’

रामदेव को हुकुम हुआ था, वह कैसे मुँह मोड़ता। औरतों ने कटोरा आगे कर दिया। रामदेव ने खौलती खीर में जैसे ही हाथ डाला, ‘सी’ करके हाथ खींच लिया। हिम्मत जवाब दे गई।

मुझे मजाक सूझा। मैंने कह दिया—

‘भगवती, आपै बाँट देही परसाद, आपके हाथ के परसाद क बातै और हवा’ मेरे इस कथन का दूसरों ने भी समर्थन किया। ओझा बगलें झाँकने लगा। चूँकि कल्पू भगत अब तक खीर हाथ से बाँटते आये थे, इसलिये ओझा को इस परम्परा का पालन करना ही करना था। कल्पू भगत खौलती खीर ऐसे बाँटते थे जैसे ठंडी दही। न कभी हाथ जला, न कोई झलका पड़ा। गाँव वाले कहते हैं कि कल्पू को देवी सिद्ध थीं। उनकी भविष्यवाणी भी गलत नहीं होती थी।

आज ओझा की अग्नि परीक्षा थी, जिसे न चाहते हुए भी उसे देनी ही थी। उसने कटोरे लिये औरतों को पास आने का इशारा किया। और थोड़ी देर तक आँख मूँद कर कुछ बुदबुदाता रहा, फिर हिम्मत कर गगरी में हाथ डालकर खीर निकाल एक औरत के कटोरे में डाला। दुबारा हिम्मत नहीं हुई तो एक बाल्टी कुएँ का ताजा पानी मँगाया। उसमें हाथ डाल

फफोलों को टंडा किया। इसी तरह हर बार खीर देने के बाद हाथ टंडे पानी में डुबाता। खीर तो जैसे-तैसे बाँट दी उसने, लेकिन दाहिना हाथ कलाई तक इतना जख्मी हो गया कि महीनों बायें हाथ से खाना खाना पड़ा बेचारे को। जला हाथ ठीक तो हुआ लेकिन चमड़ा कई जगह सिकुड़ गया। फिर उसने कभी भी भगवती बनने का स्वांग करने का नाम नहीं लिया। 'कुत्ते भी भात नहीं पूछेंगे' वाली उसकी भविष्यवाणी भी गलत निकली। धान तो हुआ लेकिन आधा पड़या निकल गया। पूरे ताल-कियारी-हर जगह धान में रोग लग गया। कीड़ों ने बालियों को हल्का कर दिया। पेस्टीसाइट का छिड़काव भी काम नहीं आया।

इस घटना के बाद ओझा बहुत दिनों तक भूमिगत रहा। उसके चेले अब रात में उसके यहाँ जुटते थे और अगल-बगल के गाँवों के भूत-प्रेत-ग्रस्त लोगों के बारे में उसे सूचित किया करते थे। ज्यादातर 'केस' चमरौटी या खटिकान के होते थे, यहाँ पैसे ज्यादा नहीं मिलते थे, लेकिन महीनों के लिए मुर्गा और देसी ठर्रा की व्यवस्था हो जाती थी। जब पैसे की तंगी सताती तो किसी मालदार पार्टी को लपेटने से भी बाज न आता। ऐसे ही अभी दस साल पहले गाँव के ही एक आई.ए.एस. का, जो गोवा में कमिश्नर था, गाँव में नया बैठका बनने वाला था। काशी के पंडितों ने आकर शुभ मुहूर्त में भूमि पूजन कराकर नींव खुदवाई और अगले दिन से नींव भराई का कार्य विधिवत् शुरू हो जाना था। दो राजमिस्त्री शहर से एक दिन पहले ही बुलवा लिये गये थे। ओझा के चेलों ने उसे सूचित किया और उसके फितरती दिमाग ने तुरन्त एक प्लान रच डाली। ठीक भूमि पूजन वाली रात उसने अपने सीनियर चेले रामदेव (जिसका जिक्र पहले किया जा चुका है) को, प्लास्टिक के एक बड़े थैले में ताजा काटे गये बकरे का सिर और एक दूसरे थैले में रोरी, नींबू, सिंदूर, ताँबे के सिक्के, शहद, हरे बाँस की कइन आदि भूत-प्रेत किये जाने की सामग्री के साथ, खुदी हुई नींव के ठीक पश्चिम दीनानाथ सिंह के पुवाल के ढेर में छिप जाने और रात के सत्राटे में दोनों थैलों की सामग्री नींव में डाल आने को निर्दिष्ट कर दिया। रामदेव ने इस कार्य को बखूबी सम्पन्न कर दिया। किसी को भनक तक नहीं लगी, यहाँ तक कि नींव की रखवाली में लगे आई.ए.एस. अफसर का छोटा भाई भी सो गया था। नींद टूटी तो टार्च लेकर उठा। पश्चिमोत्तर कोण में नींव के अन्दर बकरे के सिर के साथ भूत-प्रेत की सामग्री देख उसे पसीना छूटने लगा। उसने पिता और भाई को जगाया, धीरे-धीरे टोला-पड़ोस भी जाग गया। सुबह होते-होते यह खबर जंगल के आग की तरह पूरे गाँव में फैल गई। देखने वालों का ताँता लग गया। ओझा पर लोग शक न करें, इसलिए वह वहाँ पहले पहुँच गया था।

'घोर अनिष्ट होय गयल। बिना उताजोग करवले अब एक्को ईंटा नींव में नाही रखल जाय सकत। जब तक बनारस से कवनों तान्त्रिक या पीर न अइहैं, तब तक काम ना आगे बढ़ी।' ओझा ने अपनी दो टूक राय उछाल दी और 'गतानुगतिको लोकः'—बहुतों ने उसकी बात का समर्थन भी कर दिया। उसने काशी के मणिकर्णिका घाट वाले मशहूर तान्त्रिक मनमौजी बाबा का नाम भी सुझाया। यह भी कहा कि 'ऊहै चाह लीहैं त ईं प्रेत-बाधा दूर होई। दूसरे के मान क नाही हौ।'

गाँव में दो-चार लोग मनमौजी बाबा को जानते भी थे। बाबा ने कुछ दिन पहले बगल वाले गाँव में किसी ब्राह्मणी का जिन्न भगाया था। कमिश्नर के पिता मनमौजी बाबा को बुलाने को तैयार हो गये। ओझा को इसकी सूचना तुरन्त मिल गई और उसने मनमौजी के पास एक चिट्ठी लिख कर भेजवा दी कि पार्टी मालदार है, और लाख रुपये तक खर्च कर सकती है। सुनने में आया कि एक लाख पर नहीं, अस्सी हजार पर सौदा तय हुआ था और ओझा को दलाली में दस हजार मिले थे। इस घटना के महीने भर बाद पूरे गाँव-जवार को यह मालूम हो गया था कि सारी कारस्तानी इसी ओझा की थी।

उसके चले रामदेव ने ही उसकी पोल खोल दी थी, क्योंकि रामदेव को उसका पूरा शेयर नहीं दिया था ओझा ने। इन दुष्टों के कुकृत्यों को जान लेने के बाद भी गाँव के लोगों में भूत-प्रेतों के प्रति अन्धविश्वास आज भी जड़ जमाये बैठा है। ज्यादातर इसके शिकार गाँव के दक्खिन बसे या बसाये गये अनपढ़ दलित-पिछड़े लोग ही होते हैं। इन दक्खिनी बस्तियों में जिन्हें 'चमरौटी' या पसियाना' नाम से जाना जाता है, किसी को मियादी बुखार भी आता है तो डाक्टर के पहले कोई ओझा या सोखा देखता है। पढ़े-लिखे और अच्छे-अच्छे ओहदों पर तैनात लोग भी विरोध नहीं करते। उपर्युक्त प्रकरण में अगर कमिश्नर ने चाहा होता तो उस दुष्ट ओझा और उसके गिरोह को जेल के अन्दर जाना पड़ता, लेकिन लोगों के बहकावे में आकर उन्होंने भी इसे ज्यादा तूल न देकर चुप्पी साध ली। ओझा की सोहबत करने वाले, उसके यहाँ मुफ्त मुर्गा खाने वाले कमिश्नर के सगे पट्टीदार और चचेरे भाई ने ही उन्हें यह समझाकर कोई कानूनी कार्रवाई करने से मना कर दिया कि आपके गोवा चले जाने के बाद ओझा आपके घरवालों को परेशान करेगा। इसका नेटवर्क (जालबट्टा) कई गाँवों तक फैला है। जेल जाने पर तो यह और खतरनाक हो जायेगा। अपने गिरोहवालों से चोरी करा देगा, खेत कटवा देगा, खलिहान में आग लगवा देगा। आज के गुंडा या माफिया-तन्त्र के विस्तार के पीछे भी लोगों की यही चुप्पी साध लेने वाली मानसिकता काम करती रही है। सुदूर इतिहास के पन्नों को अगर पलट कर देखें तो सातवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी के आधे तक हमारे देशवासियों की इसी मानसिकता के चलते हमें अपने ही देश में सदियों गुलाम बनकर जहालत की ज़िदगी जीनी पड़ी। ऐसा लगता है कि भीरुता, तटस्थता और तुष्टीकरण हमारा जातीय स्वभाव-सा बन गया है, और इसी कारण हमारे अन्दर कभी संगठित और सशक्त प्रतिरोधी चेतना नहीं पनप पाई। इसी का कुफल आज हम भुगत रहे हैं कि गुन्डे और आपराधिक छवि वाले लोग हमारे समाज ही नहीं, राजनीति में भी सक्रिय हो गये। हमारा पुलिस मुहकमा और प्रशासन-तंत्र भी इनके आगे लाचार नज़र आता है। अब तो वह भी उन्हीं गुण्डों और भ्रष्ट नेताओं के हाथ की कठपुतली बनकर रह गया है।

रामदेव भगत के नाटक का पटाक्षेप हो गया। मैं अब खेत पर जाना चाहता हूँ। खेत वहाँ से ज्यादा दूर भी नहीं है, किन्तु निगाह दौड़ाता हूँ तो वहाँ कोई नहीं दिखाई देता। घड़ी देखता हूँ, बारह बज चुके थे। निराकार सिवान किसी तपस्वी की तरह तप रहा था और सूरज लू की लपटों से घेर उसकी अग्निपरीक्षा ले रहा था।

घर लौट कर पत्नी को सारा वृत्तान्त बताता हूँ। वे इन दुष्टों के और भी किस्से जानती हैं। मुझे आश्चर्य होता है यह जानकर कि यह गठिया के कारण कहीं जा भी नहीं पाती और गाँव-भर की ढेरों सूचनायें इन्हें घर बैठे मिल जाती हैं। मैं उनकी सूचना का स्रोत जानना चाहता हूँ। वह एक ऐसी औरत का नाम बताती हैं, जिसका एक पैर पूरब पट्टी में तो दूसरा पश्चिम पट्टी में रहता है। कहते हैं कि अपने जवानी के दिनों में वह वात्स्यायन के सूत्रों की प्रयोगशाला थी। पति मुम्बई में नौकरी करता था। साल में एक बार सिर्फ गर्मियों में आ पाता, वह भी सिर्फ महीने भर के लिए। शेष ग्यारह महीने उसे अकेले बिताना पड़ता। गाँव के उत्तरी सीमान्त पर बहती पोखर के किनारे उसका मकान था। कोई देवर भी नहीं था। छोटी ननद थी भी, तो उसका ब्याह हो चुका था। पति परदेश में, जवानी के दिन अकेले कटें तो कैसे ? तन का ताप मन को बेचैन करने लगा। शुरू में उसने एक देवर बनाया, फिर तो देवों की लाइन लग गई। आज वह कई नाती-पोतों वाली है। साठ साल की उम्र में भी रोजाना दस-बीस घरों में जाकर वहाँ का जायजा लेना नहीं भूलती। रिश्ते में जो जेट या ससुर लगते हैं, उनके सामने वह आज भी बड़ा घूँघट-काढ़ कर ही बात करती है।

बकौल हुल्लड़ गुरु मुंशी सूरज लाल गाँव के मनिन्द-आदमी थे, पचास बीघे के काश्तकार। उनके इकलौते बेटे रामचन्द्र लाल उ.प्र. चैम्बर ऑफ कॉमर्स के सेक्रेटरी थे। गाँव के छोटे बड़े मामले मुंशी जी के पास आते रहते थे। तीसों साल पहले इस औरत के पड़ोसी लोग सूरज लाल के पास शिकायत लेकर पहुँचे कि यह औरत गाँव के लड़कों को खराब कर रही है। इसे इसके पति को बुलवाकर मुम्बई भेजवा दीजिए।

सूरज लाल ने उन्हें बड़े करीने से समझा दिया। बोले—‘यारो, एकरे मरद की अगर एतना कमाई होती कि ऊ अपने बीबी-बच्चों को संगे रख सकता, तो गाँव से हजारों कोस दूर जायके काहे चूल्हा फूँकता, काहे सेठों की मजूरी करता ? अ जहाँ तक ए औरत क बात है कि ई तू लोगों के बेटवन को खराब कर रही है, तो दुइ टूक सुनो। ई औरत त केहू के घर जाती नहीं, तू सभन्ह के बेटा लोग खुदै एकरे घर आते हैं। अपने लड़कों को बरजो, न मानै, मार-पीटके अपने कब्जे में रक्खो।’ और भायो, एक बात और सुनो—‘दुनियाँ में अइसन कौनो गाछ नहीं है, जवने में हवा न लगी हो और कवनो अइसन फूल नहीं है, जवने पर भँवरा न बइठे हों।’

मुंशी जी भी जिन्दगी में एक बार मात खा गये थे, सारी हेकड़ी भूल गई थी। मैं इन्टर में पढ़ रहा था। सूरज लाल के भतीजे जो जवानी में ही विधुर हो चुके थे, एक बार अपने हलवाहे धन्नू की औरत, जो उनके यहाँ गोबर पाथती थी, के साथ भूसावाले घर में पकड़ लिये गये थे। गाँव में कुहराम मच गया। हलवाहा पड़ोस के गाँव का हरिजन था। वहाँ के हरिजनों ने मुंशी जी के दरवाजे आकर डेरा डाल दिया। बोले—‘अब धन्नू बो कतौ नाहीं जाई, एके मुंशी जी के रखैल बनाके रक्खै के परी।’ सूरजलाल ने बड़ा प्रलोभन दिया लेकिन हरिजन टस्स से मस्स नहीं हुए। पूरे दिन, पूरी रात मुंशीजी के दरवाजे पर जमे रहे। मुंशी

जी ने आँटा-दाल दिया, वहीं खाना बनाये-खाये। सूरज लाल बड़े बैठकबाज़ थे। पटवारी होने के नाते बीसों गाँवों के लोग उनकी इज़्जत करते थे। पीढ़ियों की प्रतिष्ठा दाँव पर लगी हुई थी। उन्होंने हाथीनशीन बाबू बाँके बिहारी सिंह से मशविरा किया। ठाकुर साहब ने अपने गाँव की तीनों चमरौटियों के एकमात्र चौधरी देवनन्दन राम को बुलवाया। देवनन्दन चौधरी को साम, फिर दाम और अन्त में दण्ड नीति के सहारे इसे सुलझाना पड़ा। पड़ोसी गाँव के हरिजनों को पहले प्रेमपूर्वक समझाया। वे जब नहीं माने और अपनी ज़िद पर अड़ गये, तब उन्हें लठैतों से घेरवाकर समझौता कराया। समझौते के तहत मुंशी जी से 20 मन अनाज और सौ रुपये नकद दिलवा दिया। यह मामला मुंशीजी के गले की हड्डी बन गया था। हुल्लड़ गुरु बताते हैं कि मुंशी जी दो दिन, दो रात न खाना खाये, न सो पाये। हमेशा प्रसन्न रहने वाले और सभी से हँसते हुये मिलने वाले मुंशीजी का आराम हराम कर रखा था उस गोबर पाथने वाली औरत की उपस्थिति ने। उधर हरिजन उसे मुंशीजी के घर से निकालकर बाहर किये, इधर मुंशीजी की मुस्कान लौट आई। तब दलितों के आँसू पोंछने वाली बसपा की तरह कोई पार्टी भी नहीं थी। कांग्रेस पार्टी में बाबू जगजीवन राम ही हरिजनों के नेता समझे जाते थे, लेकिन पंडित नेहरू की मर्जी के खिलाफ वे भी कुछ कहने-करने की हिम्मत जुटा पाने में असमर्थ थे। तब टी.वी. भी नहीं था वर्ना खबरिया चैनलों में माटीगाँव की इस 'दलित-महिला-शीलहरण' की घटना में चार चाँद लगाने की होड़ सी लग गई होती और इसे भुनाकर ये करोड़ों टी.आर.पी. कमा चुके होते। तब तुलसी दास व प्रेमचन्द जैसी महान विभूतियों को पानी नहीं, दारू पी-पीकर गरियाने वाले दलित लेखकों का साहित्य-मंच पर ऐसा विस्फोटकारी अवतरण भी नहीं हुआ था, वर्ना इस घटना पर कई कहानियाँ और उपन्यास अस्तित्व में आ गये होते। संयोग है कि मेरे गाँव में कोई फायरब्रैन्ड दलित लेखक नहीं है, वर्ना वह इसे अपने पूर्वज का भोगा यथार्थ बनाकर एक सनसनीखेज आत्मकथा लिख चुका होता और 'चौदह से चालीस वालियों' के भोक्ता, चिर-तरुण 'अस्सी के खस्सी' राजेन्द्र यादव से उसका कई भाषाओं में अनुवाद करा दिया होता। माटीगाँव जैसे अदना गाँव का वह लेखक दिल्ली के साहित्येश्वरों का मुख्य पार्षद बन गया होता।

इस घटना के तूल न पकड़ने का कारण यह था कि आज से 40-45 साल पहले हरिजन और दलित दबे हुये तो थे, लेकिन गाँव के लोगों में भी बड़े छोटे का लिहाज़ था। हर जाति, हर वर्ग का आदमी एक-दूसरे के दुख-मुसीबत में खड़ा हो जाता था। सभी एक दूसरे पर निर्भर थे। खेती ही एकमात्र आजीविका का साधन थी। हर जाति के चौधरियों का बड़ा सम्मान था। उनके निर्णय बिरादरी पर मान्य होते थे। आज की तरह सामाजिक सौहार्द्र बिगाड़ने वाले टुच्चे ओछे और चरित्रहीन नेता नहीं थे।

मुझे याद है, सत्तर के दशक में वाराणसी शहर में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ था, आधे शहर में कर्फ्यू लगा था। उन्हीं दिनों मेरे गाँव में साई के तकिया वाले बासुल मियाँ के कच्चे मकान में आग लग गई। बासुल के लड़के अलीजान ने गुहार लगाई और पड़ोस के अहीरों

ने अपने घर से सीढ़ी और बाल्टी लेकर उसे तत्काल बुझा दिया। सिर्फ एक कमरे का कोनचर जला था, जिसे ठाकुरों ने बाँस-बल्ली देकर छवा दिया। बासुल मियाँ पेशे से दर्जी थे, लेकिन उसूल के पक्के थे। नियमित नमाज पढ़ते थे। रमजान के महीने में ग़रीब लोगों से आधी सिलाई लेते थे। कभी-कभी तो पूरी छोड़ देते थे।

शाम 5 बजे छाता और टार्च लेकर खेत पर जाता हूँ। मुझे यह देखकर आश्चर्यमिश्रित खुशी होती है कि अब कुल 5 बीघे में से मुश्किल से 10 बिस्वा के गेहूँ काटने को शेष रह गया है। छोटा चिन्टू उत्साहित है। मेरे पहुँचते ही बोल उठता है—‘आज बड़का बाबू !, भगवान चाहेंगे तो हम लोग कटिया खत्म कर देंगे और कल कुएँ के पास वाले खेत में सारे बोझ ढोकर उकाँव (ढेर) लगा देंगे। परकास भैया (मेरा दूसरा बटाईदार) भी आज 8 बजे तक डेढ़ बिगहवा काट डालेंगे। कल रात में, नहीं तो परसों, अगर बलवन्त मास्टर का ट्रैक्टर खाली मिला तो दिन-रात में हमारी और परकास-दोनों की श्रेिशिंग हो जायेगी।’

मैं मन ही मन ठान लेता हूँ, कि आज जब तक सारा गेहूँ कट नहीं जाता, मैं घर नहीं जाऊँगा, भले 9 बज जाये।

मेड़ पर गमछा बिछाता हूँ और छाता तानकर बैठ जाता हूँ। थोड़ी देर छाता की छाँह में बैठने के बाद मन में यह विचार आता है कि धूप में खट रहे इन किशोरों के मन में कहीं मेरी आरामतलबी खटकने न लगे, मैं छाता बन्द कर मेड़ पर बिछा गमछा उठाकर सर पर बाँध लेता हूँ।

घड़ी देखता हूँ। साढ़े पाँच बज रहे हैं, पर धूप अभी तेज है। सोचता हूँ, ये तीन बजे से ही आकर कटनी कर रहे हैं। उस समय तो भीषण गर्मी रही होगी। लेकिन अपने ‘लक्ष्य’ को पाने की धुन में इन्हें न तो गर्मी की विभीषिका का ध्यान आता है, न ही भूख-प्यास सताती है। यही धुन, यही सनक इन दोनों को थकने नहीं दे रही है। वे पसीने से भीगी कमीजें पास के बँधे बोझ पर फैला कर नंगे बदन कटनी में जुट जाते हैं। चिन्टू अपना पैड़ा पूरा कर बाल्टी उठाकर पानी लेने के लिए पीछे मुड़ता है। मुझसे देखा नहीं जाता और मैं उसे आराम करने को कहते हुए उसके हाथ से बाल्टी छीन स्वयं पानी लेने चल देता हूँ। मुश्किल से सौ-सवा सौ गज की दूरी पर अहीरों का छोटा-सा पुरवा है, वहीं पर एक कुआँ है और थोड़ी दूर पर एक छोटी दुकान है। मैं दो पैकेट पार्ले-जी बिस्कुट खरीद कुएँ से बाल्टी भर कर ले आता हूँ। दोनों भाइयों को पानी पीकर थोड़ा सुस्ताने को कहता हूँ। लेकिन वे हैं कि मानते नहीं। पानी पीकर दँरातियाँ उठा लेते हैं। अभी भी 5 बिस्वे के करीब खेत काटने को रह गया है।

रोज़ की तरह आज मुझे अस्तंगत सूर्य को डूबते हुये देखने का भी ध्यान नहीं आया। ‘कब साँझ धिरी, सूरज डूबा/ कब रात पड़ोसिन- सी सिवान में/चुपके आकर पसर गई/ यह भी मैं जान नहीं पाया।’ अपनी कविता की पंक्तियाँ अचानक याद आ गईं। आज मुझे घर

जाने की भी उतावली न थी। अँधेरे में पैदल चलने की कठिनाई का भी भान नहीं रहा। खुशी इस बात की थी कि आज इन दोनों किशोरों को दिन-रात की खटनी से थोड़ी राहत मिल जायेगी। और कल-परसों तक इनके घर में खून-पसीने की कमाई के दाने पहुँच जायेंगे।

पूरा खेत काट चुकने के बाद भी माँ-बेटे विश्राम नहीं करते हैं, अपितु एक बँधे हुये बोझ के नीचे भिगो कर रखी गई गूढ़ियाँ (बोझ बाँधने को बनी पुवाल की रस्सियाँ) उठाकर बोझा बाँधना शुरू कर देते हैं। आज मैं घड़ी देखना भी भूल गया था। जब सारे बोझ बँध गये, तब घड़ी की ओर ध्यान गया। टार्च जलाकर देखा, रात के साढ़े नौ बज चुके थे। दस बजे रात घर पहुँचा। पत्नी खाना बनाकर दरवाजे पर बैठ प्रतीक्षा कर रहीं थी। वे तुरंत अलका को भेज पानी और चाय मँगाती हैं। मैं सुस्ताकर नहाता हूँ। भोजन करने के बाद तो बिस्तर ही दिखाई दे रहा था। एक नींद में सुबह हो गई। आज न बँसवारी में चिड़ियों का कलरव सुनाई पड़ा, न ही नटान वाले मुर्गे की बाँगा। जागते ही निरभ्र आकाश में भोर का एकमात्र तारा टिमटिमाता हुआ दिखाई पड़ा। एक साफ-शफ्फाक सुबह पूरे परिवेश पर पसर चुकी थी। पुरवैया की शीतलता तन-बदन को सुख पहुँचा रही थी।



दि. 15 अप्रैल, 2012 – रविवार

सुबह चाय पीने के बाद खेत के लिए चल देता हूँ। नहर की पुलिया पार कर चकरोड से जा रहा हूँ। दूसरा बटाईदार प्रकाश (निठोहर का बेटा) आवाज़ लगाता है। मैं उसी खेत की तरफ मुड़ जाता हूँ। वह उलाहने के स्वर में बोल उठता है—

‘आप दिन रात उनहनैँ (चिन्टू-मिन्टू) के सँभारत हईँ। आज तनी हमार मदद कय देहीं। हम अकेल हईँ। घर-भर शिवानन्द भइया क लवन करै चल गयल हवा बोझा गिन के उठवाय देहीं। आधो घंटा न लगी, हम एहिजैँ खेतैँ में गोल कय देब।’

यह सोचकर रुक जाता हूँ कि वे माँ-बेटे एक-दूसरे का बोझा उठा देंगे। एक बार तो बड़े-बड़े बोझ देखकर हिम्मत छूट जाती है और प्रकाश से कह भी देता हूँ कि इतने बड़े बोझ मैं न उठवा पाऊँगा। प्रकाश पहलवान है। आश्वस्त करता है—‘आप थोड़ा हाथ लगाय देही, हम खुदैँ उठाय लेब।’ और समुच आधा घंटा भी नहीं बीता, प्रकाश बड़े बड़े 150 बोझ एक स्थान पर गोलिया देता है।

मैं वहाँ से उसे साथ लिए हुए दूसरे चक पर आता हूँ। देखता हूँ कि माँ-बेटे जूझ रहे हैं। माँ बोझा उठवा रही है और दोनों बेटे ढोकर उकाँव लगा रहे हैं। चारों खेतों का डाँट दूर नहीं ले जाना पड़ रहा है, इसलिए वहाँ भी काम जल्दी निपट जाने की उम्मीद है। प्रकाश भी लग जाता है और घंटा भी नहीं बीतता, सारे बोझ एक स्थान पर गोल कर दिये गये।

जैसे-जैसे काम निपटता जा रहा है, मैं निश्चिन्त होता जाता हूँ। खुश भी हो रहा हूँ और थोड़ा दुखी भी। दुखी यह सोचकर कि अगर काम की यही रफ्तार रही तो चार-पाँच दिन बाद मेरे करने को कुछ भी नहीं रहेगा।

मेरे गाँव से दो-ढाई किमी. दूर एक दूसरे गाँव नसीरपुर में हम तीनों भाइयों का एक 6 बीघे का चक है। यह वहाँ के बटाईदारों के जिम्मे सौंपा गया है। नसीरपुर वालों का अभी तक कोई पता-ठिकाना नहीं लगा। दो दिन पहले गाँव के ही एक यादव के जरिये पता चला था कि नसीरपुर वाले भी लवन में जुटे हुए हैं। उम्मीद है कि तीन-चार दिन में कटिया समाप्त कर लेंगे। फिर तो श्रेशिंग रह जायेगी। अगर ट्रैक्टर मिल गया तो दो रात में वह भी हो जायेगी। नसीरपुर वालों का परिवार बड़ा है। आन सालों की तरह अगर किसी के लड़के या लड़की की शादी पड़ गई तो फिर हफ्तों इन्तज़ार करना पड़ जायेगा। इसी उधेड़बुन में घर लौट आता हूँ। पत्नी अलका के हाथ गिलास में सत्तू घोलकर भेजवाती हैं और साथ में

पालिथिन के बड़े थैले में रोटी बेली जाने वाली काठ की एक चौकी भी। चौकी का एक गुटका (छोटा पाया) गायब है। अलका बताती है कि इसे लोहरान जाकर बनवा लाइये, नहीं तो शाम को रोटी नहीं मिलेगी, भात खाना पड़ेगा। मैं चावल दिन में थोड़ा सा खा लेता हूँ, पर रात में तो क़तई नहीं। मैं चौकी लेकर चन्द्रिका लोहार के यहाँ जाता हूँ। चन्द्रिका का परिवार कई पीढ़ियों से मेरे घर का काम-काज करता आ रहा है। चन्द्रिका कक्षा 5 तक मेरे सहपाठी भी रह चुके हैं। मुझे देखते ही वे प्रसन्न हो जाते हैं और 'भइया सलाम' ('सलाम' लम्बे मुगल शासन की देन है, जो आज भी पिछड़ी जाति के लोगों द्वारा अभिवादन के लिए प्रयुक्त होता है) कहते हुए एक बढिया सुतली का बिना पलंग नीम के नीचे बिछा देते हैं। खुद नीम के पेड़ के चतुर्दिक बने पक्के चबूतरे पर बैठ जाते हैं। उनका छोटा बेटा सोनू मेरे भाई की आटा-चक्की पर काम करता है। उम्र उसकी सिर्फ 17-18 साल, लेकिन खेती में प्रयुक्त होने वाली ऐसी कोई मशीन नहीं, जिसकी मरम्मत करना वह न जानता हो। अगर वह चंदौली में कमरा लेकर रहने लगे और दो-तीन सहायक रख ले तो 5-6 सौ रुपये रोज कमा ले, लेकिन चन्द्रिका उसे कहीं भेजना नहीं चाहते। चन्द्रिका के दोनों बड़े लड़के बीबी-बच्चों के साथ अलग रह रहे हैं। यही छोटा सोनू इनके साथ रहता है। ऊपरवाले की कृपा से चन्द्रिका अभी पूरी तरह स्वस्थ हैं और अपने घर पर ही कील-काँटा बनाने वाला छोटा सा संयंत्र भी लगा लिये हैं।

मुझे बिठाकर चन्द्रिका आपबीती सुनाने लगते हैं—'भइया, अगर सोनू न होत त बुढिया के मुअले के बाद हममें दुइ रोटियो न मिलत। बड़कन के त हमार पेटै पहाड़ हो गयल रहल, जबकि हम अबहियों 40-50 रुपये कै काम रोजै कय लेहीला।'

मैं मन ही मन इस खुदगर्ज ज़माने को कोसता हूँ। अचानक हँसी आ जाती है।

'हँसा मत भइया ! ई जहर आज हर घर में फइल गयल हव। एक ठे तोहार घर बचल रहल हऽ। सुनत हई कि ओहिजों सब अलगाय गयल। तू लोग त पढ़ल-लिखल, एमे-बीए पास हउवा। दुन्नो भाई के लड़कन के इलाहाबाद रख के तोहई पढ़वला। ऊ जब चार पइसा कमाये लगलैं त तोहई के अलगाय देहलै। हमार त ई कहनाम ह भइया, कि बड़ से बड़ झगरा के जड़ मेहरारू हई। जवने घर में मरद जब अपने मेहर क बात सुनै लगल, अ ओकरे हँ में हँ मिलावै लगल, त समझा, ऊ घर बरबाद होय के रही। जब सुआरथ घेर लेला त भाई- भौजाई, बाबू-माई-सबै पराया लउकै लगलैं।'

'अ हममै त बुझाला भइया, कि ए जमनवैं में आग लगल हेव। एतने बड़ गाँव में आज एक्को घर ना बा, जवने में अलगौझी ना भइल बा।'

मैं दत्तचित्त होकर चन्द्रिका की बातें सुन रहा हूँ और वे हैं कि रुकने का नाम नहीं ले रहे हैं।

'तोहैं अपने घरहीं क खिस्सा बतावत हई। हम खूब जवान रहली। वियाह-गवना होय गयल रहै। एक दिन कौनो बात के लेके हमरे मेहरारू और भउजी में थोर-बहुत कहा सुनी

भइला भइया डिउटी (रेल की) से अइलैं। भउजी उनसे सिकाइत कइली। भयिया उनकर बात मानके हमके गारी देवै लगलैं। हमसे बरदास ना भयला। हमहूँ गरमाय गइली। ऊ गोजी (लाठी) उठवलैं, हमहूँ एक ठे छोट डंडा ले लेहली। तब ले बाबू दउरलैं। बीच में खड़ा हो गइलैं। झगरा नाहीं भयला। बिहाने दुन्नो भाई के बलाय के एक ठे तीन कली क रस्सी देहलैं, कहलैं—पारी-पारी दूनो एके तोड़ा। दूनो जने से नाहीं टूटल। फेर ओकर तीनो कली अलगाय देहलैं। एक हमके अउर दुसरकी भइया के देहलैं। कहलैं—अब दूनो एके तोड़ा। हमहने तोड़ देहली। बाबू समझौलैं कि एही रस्सी की तरह अगर लड़-झगड़ के दूनो अलगाय जइबा, त कमजोर जान के सबै आँख देखइहैं, मोका पइहैं त बरबाद कय देइहैं। एक में रहबा दूनो, त केहू क हिम्मत ना परी पजरे आवै क। एक बात अउर सुन ला सभे-मेहरारू जात बड़ी मतलबी होले। आपन-आन बहुत जल्दी चीन्हैले। ओकरे भीतर मोह-माया नाहीं होता। मेहर क बात मानके झगड़ा करबा त घर बिलाय जाई। कपार फोरव्वल करबा, पुलिस पकड़ के जेल में डाल देई। मुकदमेबाजी होई। वकील घर खुक्ख कय दीहैं। दाना-दाना के मोहताज हो जइबा दूनो।’

इतना कहने के बाद चन्द्रिका ने अपने लम्बे भाषण का उपसंहार किया। बोले—‘भइया ओही दिन से हम दूनो भाइन में कब्बौ झगड़ा ना भयला। भइया नोकरी करैं, हम लोहारी। भगवान की दया से पइसा आवै लगल। बाबू दुइ बिगहा खेतौ लिखाय लेहलैं।’

‘अच्छा छोड़ा, ई कुल त लगलै रही। पहिले पानी पिया, फेर बात होई’—कहते हुए चन्द्रिका कटोरी में गुड़ और गिलास-भर पानी, जो सोनू बहुत पहले रख गया था, मेरी तरफ बढ़ा देते हैं। मैं पानी पीकर सुर्ती बनाने के लिए चुनौटी निकालता हूँ। चन्द्रिका ने रोक दिया। बोले—‘सुर्ती हम बनावै जात हई। बहुत बढ़िया सुर्ती हव भइया। काल्है मोगलसराय से ले अइली, मोदी साह के दुकान से।’

मेरी निगाह घड़ी की तरफ जाती है। साढ़े ग्यारह हो रहे हैं। सोचता हूँ—पत्नी इन्तजार कर रही होंगी। अभी नहाना-खाना है। दुपहरिया हो जायेगी।

चन्द्रिका सुर्ती बनाकर गदोरी मेरे आगे कर देते हैं। मैं थोड़ी सी लेकर मुँह में दबाता हूँ और पालीथिन के बैग से चौकी निकाल उन्हें गुटका लगाने को कहकर लौटना चाहता हूँ कि वे पूछ बैठते हैं—‘भइया, बतावा, कइसे चलला हऽ। और कौनो काम हौ कि एतनै ?’

‘बस यही’—कहते हुए मैं चौकी सौंपकर उठ खड़ा होता हूँ। वे रोक देते हैं। कहते हैं—‘आयल हउवा त लेहले जा, तनिकै में सोनुआ बनाय देही।’ मैं ठहर जाता हूँ।

वे चौकी सोनू को सौंपकर फिर बात छेड़ देते हैं—‘भइया, तोहूँ त रिटायर हो गयल हउवऽ। अब का करत बाटा ?’

मैं कुछ जवाब दूँ, कि वे खुद बोल पड़ते हैं—‘एक दिन उदय प्रताप भइया मिलल रहैं। बतावत रहलैं कि कविता क किताब लिखैला। तनी हम हूँ के देखवता भइया। कुछ सीखे के मिलता।’

मैं अनुमान लगाता हूँ कि यह व्यक्ति भी जरूर कुछ न कुछ लिखता होगा। पूछ देता

‘चंद्रिका भाई, तोहऊँ कुछ लिखले हउवऽ ?

चन्द्रिका जैसे इस प्रश्न की प्रतीक्षा ही कर रहे थे। तुरत अपनी ‘लकड़ी की महिमा’ कविता सुनाने लगते हैं—

‘जनमत लकड़ी, मूअत लकड़ी, देख तमासा लकड़ी कै
दूनो के बिचवा में जिनगी, ढोलक-तासा लकड़ी कै
जब भइया क जनम भयल त पलंग बिछल बा लकड़ी कै
नार कटायल, हँसुआ के सँग बेट लगल बा लकड़ी कै
भइया चलै बकइयाँ, मुँह में परल चटौना लकड़ी कै
सूतै खातिन खटिआ के सँग परल खटोला लकड़ी कै
जब भइया के हरदी लागल, माड़ो गड़ा बा लकड़ी कै
धूम-धाम से ब्याह रचायल हरिस खड़ा बा लकड़ी कै
भइया कै जब दुलहिन आइल, संग में पीढ़ा लकड़ी कै
नोकरी लगल त कुरसी पवलै, रहल कुरसिया लकड़ी कै
भये रिटायर, गीता के सँग रेहल पवलै लकड़ी कै
आय बुढ़ापा सिर पर बइठल हाथे डंडा लकड़ी कै
जब भइया क मौत भइल त चिता सजल बा लकड़ी कै
जनमत लकड़ी, मूअत लकड़ी, देख तमासा लकड़ी कै”

सोनू गिट्टक लगाकर चौकी पालीथिन के बैग में डाल देता है। मैं उसे यह लकड़ी वाली कविता लिखवाकर ले आने को सहेज, घर वापस आता हूँ।

नहा-खा कर जब सोने का उपक्रम करता हूँ तो ध्यान कविता की दूसरी सतर ‘दूनो के बिचवा में जिनगी ढोलक तासा लकड़ी कै’ — पर अटक जाता है। एक बहुत बड़े दर्शन को उजागर कर रही है यह एक सतर। अचानक शेक्सपियर का कहा याद आता है—

"Life is a tale told by an idiot.....

full of sound and fury signifying nothing"

जिन्दगी एक ढोलक-तासा यानी एक उत्सव, एक हंगामा किन्तु निरर्थक, ढोलक-तासे की तरह भीतर से एकदम खाली, खोखली, निःसार, निस्तत्त्व है। किन्तु इस निरर्थक, निस्सार जिंदगी को भी सार्थक और उद्देश्यपूर्ण बनाने के लिए मनुष्य हमेशा से प्रयत्नशील रहा है और आज भी है। यदि संसार का हर व्यक्ति इसे मिथ्या मानकर गृह-त्याग कर वनों में तपस्या करने चला जाये, तो क्या इसका विकास अवरुद्ध हो जायेगा ? कदापि नहीं, ऐसा

सोचना या मान लेना एक भ्रमपूर्ण चिन्तन है। सृष्टि का रचना विधान ही ऐसा वैज्ञानिक है कि जंगल में भी इसकी विकास-यात्रा चलती जायेगी। और सृष्टि का हर व्यक्ति सन्यासी हो भी तो नहीं सकता, क्योंकि उसे प्रकृति से उत्पन्न हुये गुणों (सत, रज, तम) द्वारा परवश होकर कर्म करना ही है। जब तक कर्म है, यह सृष्टि यूँ ही चलती जायेगी— 'कर्म का भोग, भोग का कर्म यही जड़ का चेतन आनंद।'

जगन्निघन्ता ने संसार को इतना सुन्दर बनाया है, इसमें इतना आकर्षण भर दिया है कि कोई भी इसे जल्दी छोड़ना नहीं चाहता। हर किसी को कुछ न कुछ करते रहने की सनक सवार है। अगर यह न हो तो जीवन भार हो जाया। 'सनक' अर्थात् उन्माद, एक आवेश, एक पागलपन ही आदमी की ज़िन्दगी को रसाप्लावित करता है। इस संदर्भ में विवेकानन्द के जीवन की एक घटना याद हो आई, जिसे कभी पं. कृष्ण बिहारी मिश्र की पुस्तक 'कल्पतरु की उत्सव लीला' में पढ़ी थी। एक लम्बे अन्तराल के बाद नरेन्द्र (विवेकानन्द) अपने साथियों के साथ दक्षिणेश्वर के काली मंदिर पहुँचे। रामकृष्ण जी उन्हें देखते ही गदगद हो गये। बोले—'आ पास आ, इतनी देर कर दी। तेरे लिए प्राण छटपटा रहे थे।' और उनका हाथ पकड़ एक कमरे में ले गये, दरवाजा उठगा दिया। तदनन्तर मिश्री माखन और संदेश लेकर अपने हाथों से पुलकित होकर खिलाने लगे। नरेन्द्र ने टोका—'क्या कर रहे हैं ? ये सब हमें दे दीजिए, मैं इन्हें अपने मित्रों में बाँट दूँगा।'

'तेरे मित्र और खायेंगे, ये तो तुझे ही खाना है'—इतना कहकर ठाकुर असामान्य मुद्रा में भाव-विह्वल होकर नरेन्द्र की आरती करने लगे।

नरेन्द्र उग्र हो गये। आवेश में बोल पड़े—'किस पागल के पल्ले पड़ गया।'

'हाँ रे नरेन्द्र, तू ठीक कहता है। किसी को धन का पागलपन है, किसी को यश का पागलपन है, मुझे भक्ति का पागलपन है, अपनी माँ से बतियाने का पागलपन है। जैसे तुझसे बात करता हूँ न, अपनी माँ से भी वैसे ही बतियाता हूँ। विश्वास कर, बिना हठीले अनुराग के, बिना हृदय के निकले आँसू से माँ का चरण धोये उसके रूप का दर्शन असम्भव है रे नरेन !'

रामकृष्ण की बातें सुनते ही उनकी मनोदशा में अपूर्व आलोड़न आ गया। भावी गुरु के स्पर्श ने उनके हृदय के तार-तार झंकृत कर दिये।

शाम 5 बजे उठता हूँ। श्रेणिशिग के बारे में पता करने के लिए चिन्टू के घर जाने का मन बनाकर चल देता हूँ। ध्यान आता है कि उसकी बहन मधुरिया के दो छोटे-छोटे बच्चे हैं। उनके लिए दो पैकेट बिस्कुट खरीद कर कुर्ते की जेब में डाल लेता हूँ। वैसे तो पहले भी उसके यहाँ जा चुका हूँ लेकिन उसके मकान, मड़ई और चौहद्दी आदि को देखने का यह पहला मौक़ा था। चिन्टू के पिता शिवनाथ के हाथ का बनाया घर पुराना तो नहीं था, लेकिन बरखा की बौछार झेलते-झेलते बरामदे की दक्षिणी दीवार गिर चुकी है, जिसे अरहर

के टट्टर से घेर दिया गया है। बरामदे की खपरैल उतार कर उस पर मड़ई का छाजन डाल दिया गया है। मकान के दक्षिणी-पूर्वी कोने में एक छोटी-सी दूसरी मड़ई खड़ी थी। वह भी पानी खाते-खाते बीच से थँसी हुई थी। बरसात के पहले यदि उसकी मरम्मत न कराई गई, तो वह बैठ भी सकती है। मड़ई के बीचोबीच चारा काटने की एक मशीन गड़ी है, जिसमें सिर्फ एक गड़ास है। पूर्वी दीवाल के पास एक बँसखट खड़ी है, जिसकी एक पाटी टूटी है और उसे एक दूसरे बाँस के टुकड़े-सँग रस्सी से बाँधकर कामचलाऊ बना लिया गया है। बँसखट के पास एक कोने में धूल के अम्बार से ढका एक नारियल का हुक्का टिकाया हुआ है। मकान की उत्तर तरफ सरपत और बाँस की कड़न की टाटी बाँधकर सरहद घेर दी गई है और पास ही एक कोने में तीन छोटी-छोटी टाटियाँ बाँधकर लजौना (औरतों के नहाने के लिए) बना दिया गया है। पास ही टिन के जूटे बर्तन लुढ़के पड़े हैं।

मेरी आवाज़ सुनते ही चिन्टू की बहन मधुरी आकर मेरा पाँव छूती है और उसके लड़के-लड़की भी उसका अनुसरण करते हैं। मैं बच्ची को गोद में उठा लेता हूँ, उसे बिस्कुट का एक पैकेट थमा देता हूँ। वह प्रसन्न हो जाती है। बेटा अभी भी मेरे पाँव के पास ही खड़ा है। मैं दूसरा पैकेट उसे सौंप देता हूँ। वह मुस्कराते हुए उसे दाँत से खोलने लगता है।

मिन्टू मड़ई से निकालकर वही बँसखट बाहर खुली जगह में बिछा देता है और मेरे लिए पानी लेने कुएँ पर जाने को होता है। मैं मना कर देता हूँ। उसके घर की खस्ताहाली देख केदारनाथ अग्रवाल की कविता का स्मरण हो आता है—

‘जब बाप मरा तब यह पाया। भूखे किसान के बेटे ने/ घर का मलबा, टूटी खटिया/
कुछ हाथ भूमि—वह भी परती/चमरौधे जूते का तल्ला/छोटी-टूटी बुढ़िया औगी/
दरकी, गोरसी, बहता हुक्का/लोहे की पत्ती की चिमटी।’

मिन्टू को जैसे मेरे आने का मकसद पहले से पता था, वह बिना पूछे ही बताता है—
बड़का बाबू आज बलवन्त मास्टर क श्रेषर खाली नहीं हव, आज रात में मास्टर आपन गोहूँ
काटै जात हउवै। कहलँ हँ कि काल्ह भोर में, नहीं त संझा के हमरे खेते ट्रैक्टर पहुँच जाई।’

बलवन्त सिंह गाँव के रिश्ते में भाई लगते हैं। वे जू. हाई स्कूल के हेडमास्टर हैं। दारू के आदी होने के कारण बहुत से लोग उन्हें अच्छी निगाह से नहीं देखते। परसों मैं महेश सिंह के दरवाजे पर बैठा था, साथ में 5-6 लोग और थे। बलवन्त मास्टर भी आ गये। चारपाई पर बैठते ही लोगों को बताना शुरू कर दिया—‘भैया, (यानी मैं) न होते तो मेरा बी.टी.सी. का प्रमाण-पत्र न मिलता। बी.एस.ए. का बाबू साला पैसे माँग रहा था, इन्होंने उसे हड़काया। बी.एस.ए. भी इनको जानते थे। इन्हीं की वजह से मैं आज हेडमास्टर हूँ और तीस हजार पा रहा हूँ।’

मुझे तो ठीक से याद भी नहीं है कि ये मेरे यहाँ किस काम से आये थे। सिर्फ इतना स्मरण है कि ये बरसों पहले मेरे यहाँ किसी व्यक्तिगत काम से आये थे और मैंने इनका काम करवा दिया था। इस छोटे से एहसान को मास्टर आज भी ढो रहे हैं और मेरे काम को प्राथमिकता देते आ रहे हैं, वर्ना आज कौन किसका उपकार मानता है ?

ए.जी. आफिस की नौकरी में मैंने सैकड़ों लोगों के काम कराये होंगे, जिनमें से बहुत से याद भी नहीं हैं। कोई माध्यमिक शिक्षा परिषद का, कोई हाईकोर्ट का, कोई शिक्षा निदेशालय का तो कोई पुलिस मुख्यालय का काम लेकर आता था। अधिकांश लोगों के काम, विशेषकर फंड और पेंशन सम्बन्धी, तो मेरे दफ्तर से ही हो जाते थे। यही सोचता था कि इतनी दूर से पैसे खर्च करके कोई, यदि, मेरे पास आया है, जिसका कार्य मेरे थोड़े से प्रयास से हो जाना है, तो मैंने कभी कोई बहाना नहीं बनाया। नेकी को सदैव दरिया में डाल दिया, कभी किसी प्रत्युपकार की कामना नहीं की। अगल-बगल के दसियों गाँव के लोग, जो मेरे यहाँ आ चुके हैं, जब कभी मिल जाते हैं, तो जैसे हृदय उड़ेल देते हैं। इतना सम्मान देते हैं कि मैं गदगद हो जाता हूँ। निःसंदेह यही मेरी पूँजी है, यही मेरा गड़ा हुआ धन है।

यह मेरा सौभाग्य है कि आज भी, जबकि मैं सेवा-मुक्त हो चुका हूँ, इक्का दुक्का लोग आते ही रहते हैं और मैं किसी परिचित के माध्यम से उनका कार्य कराने में संकोच नहीं करता। हाँ, तब और आज में इतना फ़र्क ज़रूर आया है कि आज छोटा-सा काम भी बिना सुविधा-शुल्क के नहीं होने वाला है। लेकिन मैं भाग्यवान हूँ कि कहीं मुझे उत्कोच नहीं देना पड़ा। आज भी मैं पूरी कोशिश करता हूँ कि बिना कुछ दिये काम हो जाय, तो अति उत्तम।

अभी 5-6 साल पहले सुबह टहलने के लिये किले वाली सड़क से जा रहा था। एक बुजुर्ग सज्जन जो छड़ी टेकते हुए वापस लौट रहे थे, अचानक मेरे सामने आकर खड़े हो गये। मैं अक्सर उन्हें पुलिया पर बैठे हमउम्र लोगों से बतियाते-हँसते देखता था, पर मेरा आज तक उनसे कोई परिचय नहीं हुआ था। मैं ठिठका। मेरे कुछ कहने के पूर्व ही उन्होंने 'बाबू साहब, नमस्कार' कहकर मुझे शर्मिन्दा कर दिया। मैं पानी-पानी हो गया।

उन्होंने अपना छोटा-सा परिचय—'मेरा नाम हरदेव मिश्र है। माध्यमिक शिक्षा परिषद से उप सचिव के पद से सन् 1984 में सेवानिवृत्त हुआ'—देकर बिना लाग-लपेट अपनी समस्या रख दी। वे इतने आत्म विश्वास से भरे हुए थे, जैसे उनकी समस्या का समाधान मेरे दफ्तर में नहीं, मेरी जेब में धरा हो। उनके चेहरे पर कोई दैन्य या याचना का भाव नहीं था, जैसा हर गरजू आदमी में होता है, ब्राह्मणों में विशेषकर। मुझे पंडित जी की स्पष्टवादिता अच्छी लगी।

पंडितजी की समस्या यह थी कि उन्हें किसी नये शासनादेश के तहत सन् 1986 से अब तक पेंशन के एरियर का भुगतान मेरे कार्यालय से होना था। उन्होंने महीना भर पहले वांछित अभिलेख मेरे कार्यालय को भेज दिया था। उन्होंने घर लीवा जाकर उसकी फोटो प्रति मुझे थमा दी, फिर चाय पिलाई। मुझे स्मरण है कि वहाँ से चलते वक्त उन्होंने यह भी कहा कि आप एक कवि हैं। कवि सहृदय होता है। मुझे विश्वास है, आप मुझे निराश नहीं करेंगे। मैं 82 वर्ष का हूँ, कहीं आने जाने में असमर्थ हूँ।

पंडित जी को यह नहीं पता था कि मैं भी सेवामुक्त हो चुका हूँ। रास्ते भर यही सोचता आ रहा था कि मैं उनके भरोसे की रक्षा कैसे कर पाऊँगा ? इस समय मेरे कार्यालय की

यह स्थिति है कि यह कचहरी से भी गया-बीता हो गया है। हर काम के लिए सुविधा-शुल्क (घूस नहीं), जैसे उत्कोच के इस कलयुगी अवतार का प्राकट्य ही इसीलिए हुआ है कि बिना इसे सम्मान दिये किसी भी दफ्तर की कोई फाइल आगे नहीं बढ़ेगी। भूल से किसी परिचित सज्जन के सहयोग से अगर बढ़ा दी गई, तो वह या तो अपने मूल स्थान (अभिलेखागार) पर पहुँचा दी जायेगी या बाबूजी के किसी गुप्त ड्रार में क़ैद हो जायेगी। पंडितजी के फाइल की भी यही नियति हुई। वह रिकार्डरूम से अनुभाग में पहुँची किन्तु वहाँ से प्रत्यावर्तित और परिवर्तित होकर पुनः मूल स्थान पर पहुँच गई, किन्तु वहाँ उसका कायाकल्प हो गया। फाइल का कवर, नाम और नम्बर सभी बदल दिये गये। मैंने दुबारा प्रयास किया, पंडित जी की फाइल वाला नम्बर तो मिला लेकिन नाम उस पर एस. विलियम्स लिखा था। मेरा धैर्य जवाब देने लगा। एक दिन अनुभाग अधिकारी को बुरा भला कहते हुए अनुभाग से निकल ही रहा था कि एक परिचित लेखाधिकारी मिल गये। वे अपने कमरे में ले गये, उन्होंने मेरी समस्या बड़े धैर्यपूर्वक सुनी और मुझे वहाँ से एक दूसरे सेक्शन लिवा गये। वहाँ से पुराने अभिलेखों के आधार पर दूसरी फाइल तैयार कराकर स्वयं अपने पास रख लिया। बोले-आप एक सप्ताह में आकर डिस्पैच नम्बर ले लीजियेगा। इस तरह पूरे 9-10 महीनों बाद पंडितजी को बढ़ी पेंशन का चेक प्राप्त हो पाया। चेक की राशि 52000 रु. थी। पाकर पंडित जी हर्षित हो उठे। उनके हर्ष, उनकी प्रसन्नता ने मुझे अपार सन्तोष प्रदान किया और मेरे सारे श्रम को सोख लिया।

पंडितजी के कार्य में रुचि लेने का एकमात्र कारण यह था कि पंडितजी बहुत नेक आदमी हैं और एक अच्छे कवि भी। पं. सोहनलाल द्विवेदी, हरिवंश राय बच्चन और शिव मंगल सिंह सुमन इनके अच्छे मित्र थे। ये लोग जब भी इलाहाबाद आते थे, पंडितजी से मिले बग़ैर नहीं जाते थे। द्विवेदीजी और सुमनजी तो इनके सहपाठी रह चुके थे। इन महाकवियों के बीसों पत्र पंडितजी संजोकर रखे हुए हैं। पंडित जी की प्रतिभा से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने हाथ से प्रशस्ति-पत्र लिखकर पंडितजी को प्रदान किया। यह आज भी इनके यहाँ सुरक्षित है। पंडित जी महामना के भी कृपा पात्र थे। उन्होंने बानारस में ट्यूशन करके एक नहीं दो विषयों—हिन्दी और अंग्रेजी में एम.ए. किया था।

मैं एक काव्य-गोष्ठी में भाग लेने दूरदर्शन गया था। वहीं पर दूरदर्शन के वरिष्ठ निदेशक श्री श्याम विद्यार्थी जी से पंडितजी का जिक्र किया। विद्यार्थी जी पंडितजी की प्रतिभा से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने तत्काल मुझे उनका साक्षात्कार लेने को कहा। मैंने बताया कि उम्र ज़्यादा होने के कारण वे कहीं भी जाने में असमर्थ हैं। विद्यार्थी जी ने पंडितजी के घर पर ही दूरदर्शन की टीम भेज दी।



दि. 16 अप्रैल, 2012 – सोमवार

नित्य की भाँति सुबह मंदिर जाता हूँ। दर्शन करने के बाद ज्योंही पीछे मुड़ता हूँ, पुजारी आवाज़ लगाते हैं—‘बाबू साहब, तनिक एहरै आय जाँया’ मैं लौट पड़ता हूँ। वहाँ धर्मशाला के बाहर बने पक्के आयताकार चबूतरे पर नियमित बैठने वालों के अलावा भी बहुत से लोग इकट्ठा हैं। गाँव के मानिन्द और जमींदार बाबू अच्युतानन्द सिंह मुझे प्रणाम करके मेरे लिए जगह बनाकर बैठा लेते हैं। हाल-चाल के बाद पूछ बैठते हैं—

‘चाचाजी, कुछ सुना आपने ?’

‘क्या कोई खास बात है ?’ मैं प्रतिप्रश्न करता हूँ।

‘अरे ! इतना बड़ा कांड आपकी पट्टीदारी में हो गया और आप को कुछ पता नहीं ?’

‘वास्तव में मैं गेहूँ की श्रेिशिंग के जुगाड़ में बटाईदार के घर, वहाँ से बलवन्त मास्टर के यहाँ दौड़-भाग करता रहा। घर लौटने में देर हुई। रात के नौ बज गये थे। पत्नी अस्वस्थ थीं, मैं पहुँचा तो वे नींद की गोली खाकर सो गई थीं। फिर स्वयं खाना निकालकर खाया और सो गया।’ मैंने सफाई देते हुए पूछा—

‘बताइये, क्या कांड हुआ ?’

‘आपके पट्टीदार कलऊ सिंह ने अपने नाम की सारी जमीन अपने इकलौते पोते रिकू के नाम वसीयत कर दी। न तो बड़े बेटे को कुछ दिया और न ही मझले की बेवा मीरा को। चार-पाँच दिन पहले उनके छोटे बेटे दीना छुट्टी लेकर घर आये थे। उन्होंने बाप को चाँप चढ़ाकर सारी जमीन की वसीयत अपने बेटे के नाम करा दी। सुना-परसों तड़के चार बजे बाप को डरा-धमका कर तहसील पर ले गये। न चाहते हुए भी कलऊ सिंह को वसीयत करनी पड़ी।’ अच्युता सिंह ने तफसील से पूरी घटना बताई।

‘मालूम कैसे हुआ ?’ पूछा मैंने।

‘मीरा ने ले जाते समय देख लिया।’ उन्हें दाल में काला नज़र आया। बुढ़ऊ बीमार भी नहीं थे कि उन्हें डाक्टर के पास ले जाने की जरूरत पड़ती। मीरा को संदेह हुआ और तहसील में कार्यरत अपने किसी खास आदमी को मोबाइल से फोन कर दिया। लेकिन उस आदमी ने देर कर दी। वसीयतनामा लिखा जा चुका था।’ अच्युतानंद ने जो कुछ सुन रखा था, सुना दिया।

मैने कहा—‘दीना को यह बखेड़ा करने की क्या ज़रूरत थी। उसके बड़े भाई को कोई बेटा नहीं है, चारों बेटियाँ ब्याह दी गई हैं। दामाद भी ठीक-ठाक हैं, सभी खाते कमाते घर के हैं। कोई ज़मीन में हिस्सा लेने नहीं आने वाला है। और मीरा को तो कोई सन्तान भी नहीं है। दीना भी शान्त प्रकृति का आदमी, फिर एक-ब-एक उसके दिमाग में यह फितूर कैसे पैदा हुआ ? इसमें ज़रूर किसी शातिर आदमी का दिमाग लगा है।’

मेरी शंका को वाजिब ठहराते हुए अच्युता बोले—‘चाचा जी, ठीक कहा आपने’, और उन्होंने मेरे कान में धीरे से उस आदमी का नाम बताते हुए अपनी बात जारी रखी—‘आपको मालूम होगा कि उस नीच आदमी ने एक विधवा के इश्क में पड़कर अपनी अच्छी खासी पत्नी को सालों ताले में बन्द करके तड़पाया, आधा पेट, वह भी बासी-तिवासी खाना दिया। बाद में वह भी बन्द कर दिया। थोड़े दिन पानी पर रखा। बेचारी तड़प तड़प कर मर गई। बड़े बेटे की शादी की और पतोहू पर डोरे डालना शुरू किया। बेचारी पति से कह कर मायके चली गई। पति अध्यापक था, उसने अपना तबादला करा लिया और पत्नी को साथ लिवा गया। फिर भूलकर भी घर नहीं आया। इश्क के ही चलते अभी चार-पाँच साल पहले बड़की चमरौटी के चमारों ने इसे दक्खिन वाली बारी में गिरा-गिराकर लतियाया। इतना ही नहीं, वे इसे हरिजन एक्ट में बन्द करवाने जा रहे थे। रोपन राम प्रधान ने उससे कुछ रुपये दिलाकर मामले को रफा-दफा न करा दिया होता, तो वह आज तक जेल में सड़ता होता।’

‘कलऊ सिंह के बड़े बेटे को तो तनखाह मिल रही है। मीरा बेचारी विधवा है। उसकी ज़िन्दगी कैसे बीतेगी ? क्या वसीयत बदली नहीं जा सकती ?’ पूछा मैंने।

‘बिल्कुल बदली जायगी और आज ही। आज नहीं तो कल-परसों तक यह काम हो ही जाना है। मीरा ने पूरे गाँव में घूमकर इस अत्याचार के खिलाफ़ औरतों को साथ देने की गुहार लगाई। औरतों के एक जत्थे ने, जिसकी अगुआई लालबहादुर-बो भौजी कर रही थीं, पूरे ठकुरान में घूमकर नारा लगाया और दीना के इस कुकृत्य का भंडाफोड़ किया। प्रधान को भी सूचना भेजवा दी है। आज आपके दरवाजे पर पंचायत होगी। कलऊ सिंह नहीं मानेंगे तो औरतें सीधे चन्दौली, कलक्टर के यहाँ जायेंगी। उम्मीद तो है कि वे मान जायेंगे। नहीं मानेंगे तो लोग उन्हें जबरी उठा कर तहसील ले जायेंगे और मीरा के हिस्से की जमीन उसके नाम वसीयत नहीं, पक्की रजिस्ट्री करायेंगे।’

और अन्ततः यही हुआ। कलऊ सिंह ने पंचायत के निर्णय को अमान्य कर दिया। तब पट्टीदार के लड़कों ने उन्हें उठाकर मोटर साइकिल पर बिठाया और तहसील ले जाकर मीरा को उसका हिस्सा दिलवाया। छः सात मोटर साइकिलों पर औरतें भी मीरा के साथ गई थीं।

पंचायत में पत्नी का हत्यारा और इस षडयन्त्र का सूत्रधार वह शातिर दिमाग आदमी भी गया था, किन्तु एक भी शब्द बोलने की हिम्मत नहीं जुटा पाया। बोलता तो शायद लोग उसके ऊपर थूक देते। स्त्रियों का तेवर देख कर वह कुछ ही समय बाद दुम दबाकर भाग गया।

मुझे यह देखकर अपार प्रसन्नता हुई कि गाँव की अबोली अबला नारियों में भी अपने अधिकार के प्रति इस सीमा तक चेतना आई है कि वे अब अपने ऊपर किये गये अत्याचार को किसी क्रीमत पर सहन नहीं करेंगी। मन ही मन में इस सार्थक पहल की प्रशंसा करता हूँ।

यही स्त्री समाज कुछेक साल पहले तक सोया हुआ था, वर्ना वह पत्नीहन्ता धारा 302 में आज तक जेल में होता, जमानत भी न हुई होती। मुझे नहीं मालूम था। पत्नी ने बताया कि वह करोड़ों कमा चुका है, लेकिन वंश डूबने वाला है। बड़े बेटे को कोई सन्तान नहीं है और छोटे की औरत को दो सन्तान आपरेशन (सीजरियन) से हुई भी, लेकिन एक भी जीवित नहीं बची। छोटे की दूसरी शादी करना चाह रहा था, पर उसकी ससुरालवालों के धमकाने से सहम गया। अब तो छोटे बेटे से ही मार-गाली खाता है, बोल नहीं पाता।

मिन्टू दुपहरिया में आया, बोला—‘बड़का बाबू ! आज शाम को 6-7 बजे श्रेशर खेत पर आयेगा, हम बलवन्त मास्टर के लड़के से बतिया कर आ रहे हैं, आप आ जाइयेगा। लाइट (टार्च) और लालटेन लेकर। हम लोग 5 बजे तिरपाल खटिया और कूँचा (झाड़ू) लेकर पहुँच जायेंगे। भगवान चाहेंगे तो भिनसार होते-होते दोनों उकाँव (गेहूँ के ढेर) का गेहूँ कट जाएगा। कल सबेरे मूरत यादव की सगड़ी (तिपहिया ट्राली) मिल जायेगी तो दोपहर के पहले अनाज ढोकर पक्का के बरामदे में पहुँचा देंगे। हाँ, आप अपने ओढ़ने के लिए एक चदर भी ले लीजिएगा, खेत में मच्छर बहुत लगते हैं।’

मैं छोटे बच्चे की तरह मिन्टू के निर्देशानुसार शाम 6 बजे टार्च और लालटेन लेकर खेत पर पहुँच गया। दोनों किशोर अपनी माँ के साथ झाड़ू से साफ-सफाई करके अपने उकाँव के पास ही तिरपाल बिछाकर ट्रैक्टर के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे। 7 बजे के करीब ट्रैक्टर की आवाज आने लगी। दोनों लड़के बलवन्त मास्टर के ट्रैक्टर की आवाज पहचानते थे। एक स्वर में बोल पड़े—‘आवत हौ ट्रैक्टर। आधा घंटा लगी, ठीक-ठाक करै में। तब तक बड़का बाबू, आप जाय के खाना खाय आवा। आवत क आध पाव गुड़ लेत आया। भुलाया मत। भूसा के गरदा गटई में भर जात हौ, त गुड़ खइले बोही के संगे पेट में चला जात हौ।’

मैं लौट कर जल्दी-जल्दी खाना खाकर पुनः खेत पर पहुँच जाता हूँ। श्रेशर चालू हो गया था। मिन्टू-चिन्टू की माँ झाड़ू लेकर राश (गेहूँ के दानों की ढेरी) से गाँठ अलग कर रही थी। मैं उसे दोनों के लिए खाना लाने के लिए भेजकर स्वयं गाँठ मारने लगता हूँ। आधा घंटा भी नहीं लगता, वह खाना लेकर आ जाती है। दोनों लड़के बारी-बारी खाना खाकर काम में जुट जाते हैं। मैं चदर ओढ़कर उकाँव से दस मीटर दूर चारपाई पर लुढ़क जाता हूँ। थकान के कारण नींद जल्दी लग जाती है। एक बजे रात के करीब चिन्टू जगाता है—

‘बड़का बाबू, चल के गेहूँ नपवाय दा, हमार कुल कट गयल। अब ट्रैक्टर परकास भइया के उकाँव पर जाई।’

मैं बोटल के पानी से मुँह धोता हूँ। पानी पीकर थोड़ी सुतीं मुँह में डालकर गेहूँ नपवा देता हूँ और श्रेषर की मजदूरी देकर पुनः चारपाई पर लौटना चाहता हूँ। तभी प्रकाश के पिता निठोहर बोल पड़ते हैं—‘भइया ! उठके अब हमरे उकाँव के पजरे चलीं। हम खटिया ले चलत हई।’

दुबारा नींद लगना मुश्किल है— ऐसा सोचकर मैं खटिया छोड़ देता हूँ। निठोहर उसे ले जाकर अपने ढेर के थोड़ा पश्चिम में बिछा देते हैं। मैं उधर चलने को होता हूँ, कि मिन्दू बोल पड़ता है—‘गेहूँ अधियाय जात त हमहने आपन हिस्सा ढोय के घर धराय देहिता।’

मैं टार्च जलाकर घड़ी देखता हूँ। रात के ढाई बज रहे हैं। मना कर देता हूँ और उन दोनों को दो-तीन घंटे आराम करने को मजबूर कर देता हूँ। दोनों थके हैं। शाम चार बजे से ही खट रहे हैं। मेरी बात मान कर दोनों वहीं गेहूँ की राश के पास खेत में जमीन पर गमछा बिछाकर सो जाते हैं। मैं प्रकाश के पास चला जाता हूँ, जहाँ निठोहर चारपाई डालकर मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। वे मुझे सोने को बाध्य कर देते हैं। लेटता हूँ, लेकिन एक डेढ़ घंटे करवट बदलते ही बीत जाते हैं, नींद नहीं आती। नटाने का मुर्गा बाँग देता है। कटनिहारों का झुंड चकरोड पकड़कर अपने-अपने खेतों को खाना हो गया है। अगल-बगल के खेतों में भी कटनिहार बिछ गये हैं। उनके हाथों की बाकियाँ एक सधी लय में चलने लगी हैं। चर्-चर् की समवेत ध्वनि सिवान की निस्तब्धता को भंग करने लगी है।

अचानक मेरी दृष्टि पूरब दिशा की ओर उठ जाती है। धुँधलका छँट रहा है। पूर्वी क्षितिज पर हल्का सिंदूरी रंग फैलने लगा है। मैं चिन्दू-मिन्दू को जगाता हूँ। वे 20 किलो के नाप की ओड़ी (दौरी) से पूरी राश नापकर अधिया देते हैं। तब तक उनकी माँ, जो रात में घर चली गई थी, बोरे लेकर आ जाती है। सूचित करती है कि मूरत की सगड़ी (तिपहिया ट्राली) कोई दूसरा माँग ले गया। मेरी चिन्ता बढ़ जाती है क्योंकि अब इन दोनों किशोरों को पूरी राश सिर पर ढोनी पड़ेगी और किसी भी सूरत में दोपहर बारह-एक बजे से पहले काम समाप्त नहीं होने वाला है। लेकिन मैं देखता हूँ कि दोनों लड़के इस सूचना से तनिक विचलित नहीं होते। उनकी माँ गेहूँ बोरो में भरने लगती है। मैं उनके सिर पर उठवा देता हूँ। दूसरी खेप के साथ मैं घर जाकर चाय-नाश्ता करता हूँ और शीघ्र वापस आ जाता हूँ। तीसरी खेप सिर पर उठवा कर मैं दोनों को खाना खा लेने की हिदायत देता हूँ। इस बार छोटा चिन्दू साइकिल साथ लाया है। जहाँ पहले एक खेप में दो बोरे जा रहे थे, अब तीन पहुँचने लगे— दो साइकिल पर और एक सिर पर।

आठ बजते-बजते सूरज का ताप बढ़ने लगा। हवा भी थम गई। हर खेप के बाद 25-30 मिनट धूप में बैठकर इन्तज़ार करना अखरने लगा। लेकिन ताप से त्राण का कोई विकल्प भी नहीं था। बीस-पच्चीस मीटर की दूरी पर मेरे दूसरे चक की मेड़ पर तीन-चार आम के

पेड़ थे भी, लेकिन कटे खेतों की खूँटी पार करके हर बार वहाँ जाने और थोड़ी देर रुककर पुनः वापस लौटने की प्रक्रिया इतनी लम्बी थी कि वहाँ जाने की सोचकर भी नहीं जा पाता। जब प्लास्टिक की चप्पलें पाँव जलाने लगतीं तो उन्हें उतारकर पाँव गेहूँ की राश में डालना पड़ता। साढ़े दस बजे के करीब मेरे हिस्से का आधा गेहूँ घर पहुँचाने के बाद चिन्टू मेरे घर से एक लोटा बेल का शर्बत और बोतल-भर पानी ले आया। प्यास इतनी तेज़ लगी थी कि मैं एक साँस में पूरा शर्बत पी गया। अब कुछ जान में जान आई।

अभी बटाईदार के हिस्से का गेहूँ उसके घर पहुँचना था, जिसकी दुलाई में दो घंटे से ज्यादा लगना था। मिन्टू बोला—‘आप घर जाकर खाना खा कर आराम कीजिए। घाम तेज़ है, आपकी तबेत खराब हो जायेगी। हम लोग धीरे-धीरे ढो लेंगे।’

मैंने पूँछा—‘तुम्हारे सिर पर उठायेगा कौन ? तुम्हारी माँ से तो 40 किलो की बोरी उठेगी भी नहीं।’

मिन्टू बोला—‘हम लोग थोड़ा कम भरकर खुद उठा लेंगे।’

लेकिन मेरी अन्तरात्मा इन किशोरों को अपने थोड़े से सुख के लिए अकेले 2 बजे तक इस प्रचण्ड धूप में मरने-खपने देने के लिए तैयार नहीं थी। अचानक बचपन में पढ़ी हुई कविता याद आने लगी—

‘तन को बली बना लो इतना, सहले सर्दी, वर्षा, घाम।

मन को बली बना लो इतना, टेक न छोड़े आठो याम।

मैंने मन ही मन निश्चय कर लिया कि चाहे जितना कष्ट हो, मैं इन्हें अकेला नहीं छोड़ूँगा। जब तक इनका गेहूँ इनके घर नहीं पहुँच जायेगा, मैं यहाँ से हटूँगा नहीं।

सूरज आग उगल रहा था। सिवान साँय-साँय कर रहा था। कहीं आदम न आदम की जात; चिरई न चुरुम्मन, सिर्फ लू की लपटों में सनसनाता-भुनता सन्नाटा और उस सन्नाटे की निश्शब्द नीरवता को शब्द पहनाते, मनसायन करते हम चार लोग। अंततः सूरज हार गया, लू की लपटें पनाह माँगने लगीं। डेढ़ दो घंटे का काम मात्र एक घंटे में निपट गया। मिन्टू के घर की दूरी मेरे घर की आधी थी, इसलिए भी समय कम लगा।

हम लोगों के खेत से रवाना होने के पहले हवा तेज़ हो गई, भूसा उड़ने लगा। मिन्टू अरहर का कूँचा (झाड़ू) लेकर भूसा गोलिया कर चौकने लगा। अन्तिम खेप सिर पर रखने के पहले उसने गूढ़ियों को भूसा की ढेरी के चतुर्दिक डाल दिया ताकि अंधड़ चलने पर ज्यादा नुकसानी न हो।

पसीने से तरबतर, नाक-मुँह गमछा से बाँधे हुए जब मैं अपराह्न एक बजे के करीब घर पहुँचा, पत्नी अवाक् रह गई। बिजली महारानी ने कृपा कर दी थी। पंखा चल रहा था। मैंने आधा घंटा पंखे के नीचे बैठकर पसीना सुखाया। चापा कल पर जाने की हिम्मत नहीं हुई। आँगन में ही स्नान किया। पत्नी ने कमरे की फर्श अलका से पोंछवा कर चटाई बिछा

दी थी। खाना खाने के बाद लेटा तो शाम 6 बजे नींद टूटी। सोकर उठा तो देखा, बाहर कुएँ की जगत पर निठोहर इन्तज़ार कर रहे थे। अभी उनका गेहूँ बँटवा कर ढुलवाना था। मैं मुँह धोकर पानी पी रहा था, कि पत्नी ने एक बड़ा गिलास सतू घोल कर दे दिया। उसे पी मैं टार्च और डंडा लेकर पुनः खेत पर पहुँच गया। निठोहर के दोनों लड़के—प्रकाश और पप्पू वहाँ पहले पहुँच चुके थे। पप्पू साथ में अपनी तिपहिया ट्राली भी ले गया था। रात 9 बजे तक उन्होंने मेरे हिस्से का आधा गेहूँ ट्राली पर लादकर मेरे घर पहुँचा दिया। और अपना हिस्सा बोरों में भर कर ले गये। साल भर के परिश्रम का प्रतिफल जब अन्न के दानों के रूप में किसान के घर पहुँच जाता है, उसे अपार खुशी होती है। चिन्टू-मिन्टू और निठोहर से ज़्यादा प्रसन्नता मुझे हो रही थी, क्योंकि मेरे खेत की उपज (भले आधी ही सही) आज मेरे घर पहुँच गई थी। आखिर, मेरी आजीविका भी तो इसी से जुड़ी हुई है !

आज मन बेहद प्रसन्न है। शरीर दिन भर के श्रम के कारण थक कर चूर है, तो भी नींद नहीं आ रही है। बिस्तर पर पड़े-पड़े सोचता हूँ कि मैं तो साल में दो-तीन बार, वह भी कुल मिलाकर सिर्फ़ महीने-दो महीने के लिए गाँव आ पाता हूँ और इतने दिनों तक ही मेरा अपने खेतों से जुड़ाव हो पाता है, किन्तु ये भूमिहीन बटाईदार तो रात-दिन खेतों में ही, खेतों की फसलों के साथ सोते-जागते हैं, किन्तु इन्हें भी इनकी उपज का लाभ कहाँ मिल पाता है ! सरकारी बिक्री केन्द्र बड़े और दबंग काश्तकारों का ही गल्ला लेते हैं और उन्हें ही सरकारी सब्सिडी का लाभ मिल पाता है। छोटे किसानों और बटाईदारों को तो अपना अनाज मज़बूर होकर स्थानीय व्यापारियों के हाथ ही बेचना पड़ता है। गरीब किसान दोहरी मार का शिकार होता है—एक तो उसे सरकारी सब्सिडी (50 रुपये प्रति क्विंटल) का लाभ नहीं मिलता, दूसरे उसे गल्ला स्थानीय व्यापारी की शर्तों पर बेचना पड़ता है। व्यापारी बड़े आढ़तियों से मिले रहते हैं। सीधे आढ़त पर ले जाने से भी कोई फायदा नहीं है, उल्टे ढुलाई पर अतिरिक्त खर्च बैठता है। केदार अग्रवाल की 60 साल पहले लिखी निम्नांकित कविता का सच आज भी उतना ही सच है—

‘कृषकों के पौरुष से उपजा कन-कन सोना/ लड़ियों (आज ट्रैक्टर) में लद-लदकर, आकर/ बाहरी खोहों में खो जाता है जा-जाकर/ और यहाँ पर राम निहोरे राम पदारथ/ गाँवों से आ-आकर गहने गिरवी रखते/ न्याय यहाँ पर अन्यायों पर विजय न पाता/ न्यायालय की ड्योढ़ी पर दब कर मर जाता।’



17 अप्रैल, 2012 – मंगलवार

सुबह मन्दिर से लौटकर घर आता हूँ। छोटे भाई बताते हैं कि बरडीहाँ वाले विक्रमा भैया की मृत्यु हो गई है। एक आदमी को तीरे (श्मशान घाट) जाना होगा। मिट्टी दस बजे उठेगी। आप रहने दीजिए, घाम बहुत तेज है। मैं महेन्द्र के साथ मोटरसाइकिल से चला जाऊँगा।

वैसे तो बरडीहाँ गाँव में पूरी ठकुरान से हमारे घर का खान-पान, भोज-भात है, किन्तु दो-तीन परिवारों से बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध हैं, कई पीढ़ियों से। विक्रमा भैया और गणेश भैया के परिवारों से तो बहुत ही नजदीकी रिश्ता है।

मैं चाय पीकर, दुवार (मातमपोशी) करने उनके यहाँ जाता हूँ। उनके दरवाजे पर जितनी भीड़ गाँव वालों की नहीं है, उससे ज्यादा छात्र, और इन्टर में पढ़ने वाली बच्चियाँ हैं, जिन्हें कल शाम तक विक्रमा भैया ने पढ़ाया था। सेवा-निवृत्ति के बाद उन्होंने यह व्रत ले लिया था कि जीवन-पर्यन्त वे बच्चों को निःशुल्क पढ़ायेंगे और इस व्रत का उन्होंने मृत्यु के एक दिन पूर्व तक पालन किया।

अपने गाँव तो मैं प्रायः जाता रहता था, लेकिन उनसे, मिलने का मौका साल-दो साल में एकाध बार ही निकल पाता था। अभी दो साल पहले विक्रमा भाई के पट्टीदार गणेश भैया को देखने गया था, जो थोड़े दिन पूर्व दिल्ली के किसी नर्सिंग होम से हृदय की बाइपास सर्जरी कराकर लौटे थे। उनके यहाँ से विक्रमा भाई के यहाँ गया। उनके बड़े बैठके में एक तरफ हाईस्कूल की, दूसरी ओर इन्टर की छात्रायें बैठी पढ़ रही थीं। एक बड़ा-सा श्याम पट्ट बरामदे के मध्य में दीवाल पर टंगा था। मुझे देखते ही वे हाथ जोड़े हुए बाहर आ गये। जाड़े का मसौम था। दरवाजे पर पड़ी चारपाई खींचकर उन्होंने धूप में कर दी और एक बच्ची को बुलाकर बखरी में भेज दिया, चाय लाने के लिए। मैं गणेश भैया के यहाँ से चाय पीकर गया था, मना किया लेकिन वे कहाँ मानने वाले थे। मुझे देखते ही गदगद हो गये, बोले—‘मेरे पिताजी जब तक शाम को आपके यहाँ नहीं हो आते थे, उनका खाना ही हजम नहीं होता था। राम सकल काका (मेरी पिताजी) की तारीफ करते नहीं अघाते थे। वैसे प्रेम आज ढूँढे नहीं मिलेगा।’

मुझे आज भी याद है। गर्मियों की छुट्टी में बरडीहाँ गाँव से दो व्यक्ति अक्सर मेरे यहाँ आते थे—एक गणेश भैया के बड़े पिताजी भृगुराज सिंह (जिन्हें हम लोग भंगू दादा

कहते थे) और दूसरे विक्रमा भाई के बाबूजी-रामचरित्र दादा। भंगू दादा शाम 5 बजे के करीब आते थे। हम तीनों भाई भीतर कोठरी में सोये रहते थे। पिताजी अक्सर मुझे ही जगाते थे और बखरी से पानी या शर्बत लाने को कहते थे। आम की पाल खुली होती थी, तो पानी के साथ आम लाने को कहते थे। भंगू दादा पानी पी चुकने के बाद हुक्का पीते थे। राम चरित्र दादा 7 बजे के करीब आते थे। पिताजी इन दो व्यक्तियों के आने का बेसब्री से इन्तज़ार किया करते थे। किसी कारणवश नागा होता था, तो खुद बरडीहाँ पहुँच जाते थे। वे गोस्वामी जी का यह दोहा अक्सर 'कोट' किया करते थे :

आवत ही हरषे नहीं, नैनन नहीं सनेह।

तुलसी तहाँ न जाइये, कंचन बरसै मेह।।

विक्रमा भाई बताने लगे—'मेरी बहुत इच्छा थी अपने गाँव में एक कन्या विद्यालय खोलने की। प्रधान ने जी.एस. की ज़मीन देने का वायदा भी किया था, लेकिन उस ग्राम समाज की जमीन को उसने अपने ख़ास लोगों को आवण्टित करा दिया। तब मैंने निश्चय किया कि अपने इस बड़े बैठके में ही कन्याओं को पढ़ाऊँगा। भगवान की इच्छा से मेरे यहाँ विद्यार्थियों की भीड़ लगी रहती है। मैं 1994 में रिटायर हुआ और उसी समय से यह सिलसिला चल रहा है। शुरू में छोटे बच्चे आते थे, गरीब-गुरबा के। इन बच्चों को, प्राइमरी स्कूल के अध्यापक दो-तीन वर्षों में भलीभाँति अक्षर-ज्ञान तक नहीं करा पाये थे। आप जानते होंगे कि पहले 15-20 गाँवों के बीच सिर्फ़ दो प्राइमरी स्कूल थे—एक केशवपुर में, दूसरा आपके माटीगाँव में। आज छोटे-बड़े हर गाँव में विद्यालय खुल गये हैं। इसके अलावा अंग्रेज़ी स्कूलों के पैटर्न पर नर्सरी स्कूल भी चल रहे हैं। हर प्राइमरी स्कूल में 300-400 विद्यार्थी हैं, लेकिन शिक्षक कहीं एक, तो कहीं दो। कहीं-कहीं इस कमी को शिक्षामित्रों की नियुक्ति से पूरा किया गया है। शिक्षण में सबसे बड़ा व्यवधान उत्पन्न हुआ है 'दोपहर के भोजन' (Mid-day Meal) की अनिवार्यता के कारण। पहली मीटिंग भोजन बनवाने-खिलाने में ही निकल जाती है। थोड़ी बहुत पढ़ाई दूसरी बेला में ही हो पाती है। आज अध्यापक जितने काहिल और कामचोर हैं, उतने कभी नहीं थे। प्रतीक्षा करते रहते हैं कि कब 5 बजे और घर को प्रस्थान करें। जब नींव ही कमज़ोर होगी तो उस पर किस तरह का भवन बनेगा ? अभी कल या परसों के अख़बार में एक ख़बर छपी थी कि यू.पी. के पश्चिमी जिलों में प्राइमरी के अध्यापक बेसिक शिक्षा अधिकारी को घूस देकर निलम्बित हो जाते हैं और 2-3 वर्षों तक निलम्बित रहने के बाद पुनः पैसे देकर पूर्ण वेतन पर बहाली करा लेते हैं। निलम्बन-अवधि में वे अपना व्यक्तिगत कारोबार या खेती-बाड़ी करते हैं। ऐसा चारित्रिक पतन तो कभी सुनने में नहीं आया था।

'आज धुर देहात में भी हर 5-6 किलोमीटर पर पब्लिक स्कूल खुल गये हैं। यहाँ पढ़ाई महँगी है, लेकिन यहाँ बच्चों के शारीरिक और मानसिक विकास के लिए बहुत कुछ है। इन स्कूलों के पास अच्छा ख़ासा खेल का मैदान है, खेल के सामान हैं, कम्प्यूटर हैं, विज्ञान

की प्रयोगशाला है, बच्चों को ले जाने-लाने के लिए वाहन की सुविधा है। शिक्षा का स्तर प्राइमरी स्कूलों से हजार गुना बेहतर है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण है इन विद्यालयों के बच्चों का अनुशासन। आप देख रहे हैं कि कटसिला जैसे पिछड़े गाँव में 10 एकड़ ज़मीन पर कितना अच्छा पब्लिक स्कूल खुल गया है। सुना है वैसी अच्छी पढ़ाई चन्दौली के भी किसी स्कूल में नहीं होती।

चाय आ गयी थी। चाय पीने के बाद मैंने पूछ दिया—‘आखिर आपको इस कार्य की प्रेरणा कहाँ से मिली ? आपने तो कभी अध्यापन-कार्य किया भी नहीं। प्रायः ऐसा देखा गया है कि रिटायर होने के बाद अध्यापक भी अध्यापन से विमुख हो जाते हैं। या तो वे अपनी खेती बाड़ी में लग जाते हैं या बेटा, अगर नौकरी में है तो उसके साथ रहने लगते हैं। आपको ऐसी सद्बुद्धि कहाँ से मिली ?

बोले—‘आपको शायद ही याद हो, आप एक बार किसी काम से सकलडीहा ब्लॉक पर आये थे। मैं उस समय विकास खण्ड का मुख्य लिपिक था। किसी बात के संदर्भ में आपने टी.डी. डिग्री कालेज जौनपुर के संस्थापक बाबू तिलकधारी सिंह जी का जिक्र किया था। बाबू साहब किसी रियासत के सचिव थे। आपने बताया था कि बाबू साहब को कोई संतान नहीं थी। पुत्र न होने के कारण उनकी पत्नी बहुत दुखी रहती थीं। उनकी पीड़ा समझते हुए भी बाबू साहब निरुपाय थे। एक रात उन्होंने भोर में स्वप्न देखा कि उनके एक-दो नहीं, हजारों बेटे होंगे। सपने की निरर्थकता समझ कर उन्हें हँसी आ गयी। किसी दिन इसकी चर्चा उन्होंने रियासत के राजा साहब से की। राजा दूरदर्शी थे। थोड़ा मनन करने के बाद उन्होंने इस स्वप्न को सच में बदलने का उपाय ढूँढ़ निकाला। बोले—‘आप अपनी ज़मीन पर एक विद्यालय खोलने का संकल्प लेकर इस पुनीत कार्य में जी-जान से जुट जाइये। धन की चिन्ता न कीजिए।’

‘राजा ने तिलकधारी सिंह को चाँदी के दस हजार रुपये दिये और दो-तीन रियासतों के राजाओं को सहायतार्थ पत्र भी लिख दिया। बाबू साहब पूरी निष्ठा से विद्यालय के निर्माण में जुट गये। उनके प्रेरणा-स्रोत बने महामना मदन मोहन मालवीया देखते-देखते एक भव्य इमारत इनके गाँव में खड़ी हो गई। गरीब विद्यार्थी, जो अर्थाभाव के कारण शहर में जाकर पढ़ाई करने में असमर्थ थे, इस विद्यालय में प्रवेश पाने लगे। अध्यापक भी स्वेच्छा से अपने वेतन का कुछ भाग विद्यालय को दे देते थे। आज यह पूर्वांचल का सर्वाधिक ख्यातिलब्ध पी.जी. कालेज है।

‘आपने बताया था कि जिस दिन डिग्री कालेज का प्रथम स्थापना दिवस मनाया गया बाबू तिलकधारी सिंह मंच पर सपत्नीक विराजमान थे। जिस क्षण अध्यापकों और विद्यार्थियों ने श्रद्धापूर्वक इस वृद्ध दम्पति के चरण स्पर्श करना प्रारम्भ किया, खुशी के मारे इनकी आँखों से आँसू छलक आये। एक पुत्र की कामना में घुटने वाली माँ के आज हजारों बेटे थे। उन दिन बाबू साहब ने अपने उस स्वप्न का भी जिक्र किया, जो इस विशाल इमारत के निर्माण का आधार बना।’

उस दिन विक्रमा भाई ने मेरी बताई घटना का इतना रोचक वर्णन किया कि मैं अभिभूत हो गया। मुझे बरबस उनकी स्मरण शक्ति और अभिव्यक्ति की प्रशंसा करनी पड़ी।

मैं चुपचाप उनकी बातें सुन रहा था और धूमिल की ये पंक्तियाँ— 'जिन्दा रहने के पीछे/ अगर कोई तर्क नहीं है/ तो रामनामी बेचकर/ या रंडियों की दलाली करके/ रोटी कमाने में कोई फ़र्क नहीं है' — गूँजती जा रही थीं। सचमुच, जीवन का कोई खास मकसद न हो, जीने के पीछे कोई सोदेश्य सार्थक तर्क न हो तो मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं होगा। जिस व्यक्ति के प्रेरणा-स्रोत महामना और बाबू तिलकधारी सिंह जैसे महान व्यक्ति थे, निश्चय ही वह भी एक सामान्य आदमी नहीं था। विक्रमा भाई ने सेवा-निवृत्ति के बाद 17-18 वर्षों तक अपने बैठक में अपनी पेंशन के पैसे खर्च कर हजारों छात्राओं को निःशुल्क पढ़ाया था। आज उन छात्राओं के 'गुरुजी' नहीं हैं। मैं देख रहा हूँ कि रोते-रोते सभी की आँखें सूज गई हैं। सभी शव को घेरे हुए खड़ी हैं, हटने का नाम नहीं ले रही हैं।

इन पंक्तियों को लिखते समय महादेवी जी के दशकों पूर्व ए.जी. आफिस में हिन्दी-दिवस पर दिये गये भाषण का यह प्रथम वाक्य आज तक याद है—'जिन आँखों में स्वप्न नहीं होते, वे आँखें बंजर होती हैं।' सोचता हूँ कि यदि स्वप्न ही नहीं होंगे, तो उन्हें पूर्ण करने की इच्छा-शक्ति भी नहीं जागृत होगी। महान पुरुषों के सपने भी महान होते हैं। महामना ने सपना देखा और विश्व का तीसरा बड़ा विश्वविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय अस्तित्व में आया, बापू ने सपना देखा, देश अंग्रेजों की दासता से मुक्त हुआ, तिलकधारी सिंह ने सपना देखा, टी.डी. डिग्री कालेज बनकर तैयार हो गया और इन्हीं महान विभूतियों के नक्शे-कदम पर चलते हुए, इन्हीं से प्रेरणा लेकर विक्रमा भाई ने सपना देखा था कन्या विद्यालय बनवाने का, जो किन्हीं विवशताओं के कारण जब नहीं बन पाया तो उन्होंने अपने बैठके को ही विद्यालय बना दिया। आज पैसा खाने के लिए अपने देश का सौदा करने में संकोच न करने वाले भ्रष्टाचारी राजनेताओं में एक भी चेहरा नज़र नहीं आता, जिसके पास गाँधी या महामना की दूरदृष्टि हो, जिनकी आँखों में अपने देश के बहुमुखी विकास का सपना हो। सभी स्वार्थान्ध, सभी कुर्सी के गुलाम। आकंट भ्रष्टाचार में डूबे हुए।

विक्रमा भाई का शव उठने में अभी विलम्ब है। शायद किसी सगे सम्बन्धी के आने की प्रतीक्षा हो रही है। मैं लगभग दो घंटों तक वहाँ रहा। सभी की जबान पर एक वाक्य था—'मास्टरचाचा/ मास्टर भैया को एक सन्त की मौत मिली है।

उन्हीं के दरवाज़े पर यह भी पता चला कि कल शाम को भी इन्होंने बाक्रायदा विद्यार्थियों को पढ़ाया। सुबह शौचादि से निवृत्त होकर चाय पी। अखबार पढ़ रहे थे और पढ़ते-पढ़ते कुर्सी पर पीछे की तरफ उठग गये। गर्दन तिरछी न हुई होती तो लोग यही समझते कि पढ़ते-पढ़ते सो गए हैं।

घर लौट रहा हूँ। सोचता आ रहा हूँ। लोग सही कह रहे हैं कि विक्रमा भाई को एक सन्त की मौत मिली है। न बीमार हुए, न उपचार पर पैसे खर्च कराया, न किसी अंग में

विकृति आई, और न ही किसी पर अपनी सेवा का भार डाला। मैं तो कहता हूँ कि ऐसी मृत्यु सन्तों में भी विरले को नसीब होती है। आज के ढोंगी, लोलुप, वैभवशाली, ए.सी. कार में सफर करने वाले तथाकथित सन्तों-महात्माओं और उनके लम्बे काफ़िले को देखता हूँ तो आँखें फटी रह जाती हैं। कहाँ आदि शंकराचार्य, कहाँ रामकृष्ण परमहंस, कहाँ दयानन्द सरस्वती, कहाँ विवेकानन्द जैसे त्यागी और कहाँ ये विलासी और वैभवशाली मठाधीश। आज के किसी सन्त के आचरण में कहीं है वैसी शुचिता, वैसा त्याग और तपश्चर्या, वैसी उदारता, और पर-दुख-कातरता ? फिराक साहब का एक शेर है—

जब तक ऊँची न हो जमीर की लौ

आँख को रौशनी नहीं मिलती।

आज अपने देश के हालात पर नज़र डालते हैं तो देखने को मिलता है—कहीं उग्र जातिवाद, कहीं परिवारवाद, कहीं क्षेत्रवाद, कहीं भाषावाद, कहीं प्रांतीयतावाद और इन सबको हवा देती आज की तुच्ची कुर्सी की राजनीति। 'कूप मंडूक' की तरह आदमी की सारी ज़िन्दगी कट जाती है। विरले को ही विक्रमा भाई की तरह परमार्थ की दृष्टि मिल पाती है। वे ऐसी सखिसयत थे, जो हज़ारों दिलों में बने रहेंगे और लोगों को सार्थक जीवन जीने की राह बताते रहेंगे। वास्तव में ऐसा जीना ही सार्थक जीना है। यही मानव जीवन की उदात्त परिणति भी है।

मैं इस महापुरुष के शव को प्रणाम करता हूँ और भीगी आँख लिए घर लौट आता हूँ।



दि. 18 अप्रैल, 2012 - बुधवार

सुबह चाय पी चुकने के बाद निठोहर को साथ लेकर पड़ोसी गाँव नसीरपुर वाले बटाईदार के यहाँ जाता हूँ। उसका डॉट अभी खलिहान में ही पड़ा था। वह बताता है कि मियाँ का ट्रैक्टर अभी दो-तीन दिन बाद ही खाली होगा। मैं चाह रहा था कि इसे भी निपटाकर इलाहाबाद चलूँ किन्तु पत्नी के स्वास्थ्य को देखते हुए रुकना सम्भव नहीं लग रहा है। गत 4-5 दिनों में उन्होंने निठोहर बो को साथ लेकर इतना शारीरिक श्रम किया कि डर रहा हूँ—कहीं बुखार न आ जाय। उनके बीमार हो जाने का मतलब है, मेरा खेत-खलिहान जाना सब स्थगित हो जायेगा। कल शाम को बता रही थी कि 5 क्विन्टल गेहूँ और चावल जो बुरी तरह घुन चुका था, साफ कराकर बेच दिया। पाँच हजार रुपये आपकी अटैची में डाल दिया है। कल 12 कट्टा गल्ला चिन्टू से बोरो में भरवा कर सिलवा दिया। इसे इलाहाबाद ले चलना है। कच्ची बखरी से चकरी मँगा कर 5-6 पसेरी चना-मसूर की दाल दरवाया, आपने जो सरसों छत पर फैलाई थी, उसे चिन्टू से पेरवा कर तेल रखवा दिया है। सारा सामान इलाहाबाद ले चलना है।

मैंने 'मार्क' किया है कि काम की चिन्ता में इस औरत ने सदा ही अपने रोगों को नजर-अन्दाज़ किया है, यहाँ तक कि डाक्टर की सख्त हिदायतों को भी दरकिनार कर दिया है। इस लापरवाही का कुफल उसे तो भोगना ही पड़ता है, मैं भी परेशान हो जाता हूँ। गुस्से में कुछ भला-बुरा सुनाने लगता हूँ तो मेरा ही कहा यह दोहा 'कोट' कर देती है—

*'जो बिधिना ने लिख दिया, छठी रात के अंक,
राई घटै न तिल बढ़ै, रहु रे जीव निसंक।'*

इतने सारे कामों को निपटा चुकने के बाद उन्होंने जीप मालिक भरत सिंह को बुलवा कर कल इलाहाबाद चलने को सहेज भी दिया है। मतलब यह कि अब मेरे जिम्मे करने को कोई काम नहीं बचा है, सिवा इसके कि मैं कल प्रकाश या चिन्टू से सारा सामान जीप में लदवा दूँ।



दि. 19 अप्रैल, 2012 - वृहस्पतिवार

परिवार और पड़ोस के बच्चों को पहले से ज्ञात है कि इलाहाबाद वाली आजी आज जाने वाली हैं। अलका, अर्चना, अनन्त, अंकुर, ऋचा और जुगनू उन्हें घेर कर खड़े हैं। वे किसी को चाकलेट खाने, किसी को पतंग खरीदने, किसी को मिठाई खाने तो किसी को पेन खरीदने के लिए पैसे गिन-गिन कर देती हैं। बच्चे खुश हो जाते हैं।

जीप पर सामान लद चुका है। बच्चे, पास-पड़ोस की औरतें, छोटे भाई, भतीजा, पट्टीदार हरबंश भाई विदा देने के लिए खड़े हैं। मैं देख रहा हूँ कि पत्नी की आँखें भर आई हैं, उन्हें देखकर औरतों की आँखें भी छलक उठती हैं। बच्चे-बच्चियाँ भी उदास हो गये हैं। सोचता हूँ कि विदा के क्षणों में आँखों से बरबस छलक जाने वाले अबोले आँसू कितने निर्मल होते हैं, जो मन का सारा कलुष धोकर विदा होने वाले को एक ऐसे आत्मीय बन्धन में बाँध देते हैं, जो कभी नहीं टूटता। व्यक्ति के अक्ष-कोष में आँसुओं की यह अक्षय-सम्पदा न होती तो वह हर्ष अथवा विषाद की चरमावस्था को झेल ही न पाता। कड़ियों को तो काठ मार जाता है, आँसू ही नहीं निकलते। ऐसे लोगों को रुलाया न जाये, तो विक्षिप्त हो जाते हैं।

जीप रवाना हो गई है। विदा देने आये लोगों से अलग होते समय मेरी आँखें भी भीग जाती हैं। मैं यादों की यह धरोहर सहेज लेता हूँ, ताकि भविष्य में भी अपनी जन्मभूमि का आकर्षण बना रहे।

गाँव छूट रहा है, आत्मीय छूट रहे हैं। शिवाला, खेत-खलिहान, ताल-पोखर, बाग-बगीचे सिवान एक-एक कर दृष्टि से ओझल हो रहे हैं। जीप आधे घंटे में चन्दौली पहुँच गई, लेकिन मन अभी भी वहीं, गाँव में घूम रहा है। जन्मभूमि का मोह ही ऐसा होता है, जिससे न तो मर्यादा पुरुषोत्तम राम बच पाये, न ही योगीश्वर कृष्ण। श्रीराम लंका-विजय के बाद पुष्पक पर बैठ कर लौट रहे हैं। अयोध्या को देखते ही हर्ष-विह्वल हो उठते हैं और सुग्रीवादि से अपनी जन्मभूमि की प्रशंसा करने लगते हैं—

जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुराना विदित जगु जाना॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ॥

श्रीकृष्ण तो अपनी परमप्रिय ब्रज भूमि छोड़ते ही नहीं, यदि आततायी कंस का विनाश न करना होता। मथुरा-प्रवास में भी ब्रज का मोह कहाँ टूट पाया ? ऐसा सम्भव होता तो ऊधो से क्यों कहते कि—

‘ऊधो, मोहि ब्रज बिसरत नाहीं

हंस-सुता की सुन्दर कगरी औ कुंजन की छाँही।’

डॉलर के मोह ने आज हमारी नई पीढ़ी को इतना संवेदनहीन बना दिया है कि वह अपनी जन्मभूमि तो भूली ही है, अपने जन्मदाता पिता-माता तक की सुधि नहीं ले पा रही है। यही वजह है कि हर शहर में ‘ओल्ड एज होम’ खुलते जा रहे हैं। मेरे एक आडिट के सहकर्मी और मित्र वीरेन्द्र श्रीवास्तव की मृत्यु हुई। उस समय उनके दोनों बेटे अमेरिका में थे। दोनों ने यह कहकर आने में अपनी असमर्थता जाहिर की कि कम्पनी का मैनेजर छुट्टी नहीं दे रहा है। सारी परम्पराओं को तोड़ वीरेन्द्र भाई की पत्नी ने मुखाग्नि दी। अपनी जरूरी आवश्यकताओं, अपने सुखों की बलि देकर पाई-पाई जोड़कर बेटों को इंजीनियर बना कर विदेश भेजने वाले बुजुर्गों के कटु-तिक्त अनुभव जब कभी सुबह की सैर के समय सुनने को मिलते हैं, तो इन नालायक सन्तानों को लानत भेजने की इच्छा होती है।

जीप गंगा का पुल पार कर इलाहाबाद शहर में प्रवेश कर गई है। थोड़ी देर में अलोपी बाग चुंगी पहुँच जाती है। वहाँ भीषण जाम लगा हुआ है। धूल, धुआँ का अंबार, डीजल-पेट्रोल की गंध, गाड़ियों के हार्न और भीड़ का भीषण शोर आँख, मुँह, नाक, कान को भेदकर भीतर पहुँच रहा है, थोड़ी ही देर में जी तिलमिला उठता है। उबकाई आने को हो रही है। गाँव का वह शान्त स्निग्ध, नीरव वातावरण याद आने लगता है, जहाँ उदारमना प्रकृति अपना अक्षय कोष सदैव खोले रहती है, सृष्टि के श्रान्त-क्लान्त जीवों के लिए। अकस्मात् प्रसाद जी की गीत-पंक्तियाँ स्मृति में कौंध जाती हैं—

‘ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक ! धीरे-धीरे !

जिस निर्जन में सागर लहरी, अम्बर के कानों में गहरी—

निश्चल प्रेम कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे !

जहाँ साँझ-सी जीवन काया, ढीले अपनी कोमल छाया,

नील नयन से ढुलकाती हो ताराओं की पाँति घनी रे !’

